मन की रानी

श्री कृष्णजीवन भार्गव
द्वारा
संकलित एवं संपादित

नवयुग ग्रन्थ कुटीर
बीकानेर

प्रथम संस्करण
मूल्य ५.०

प्रकाशक
नवयुग ग्रन्थ कुटीर
बीकानेर

मुद्रक
एजुकेशनल प्रेस
बीकानेर

सम्पादकीय निवेदन

श्री शंभूदयाल सक्सेना को साधारण पाठक कवि, नाटककार और उपन्यास लेखक के रूप में ही जानता है परन्तु वे एक अच्छे कथाकार भी हैं। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के आदि काल से कहानियाँ लिखना आरम्भ किया है। सैकड़ों की संख्या में उनकी कहानियाँ निकल चुकी हैं। सामाजिक, ऐतिहासिक पौराणिक सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और बालोपयोगी अपनी कहानियों में उन्होंने नीति धर्म, दर्शन मनोविश्लेषण सामाजिक न्याय, विज्ञान आदि सभी विषयों को स्पर्श किया है। उनकी कहानियों में सर्वत्र सुरुचि और मानवतावादी दृष्टिकोण की झलक मिलती है। राष्ट्रीयता और जनक्रांति के हामी के रूप में वे कई कहानियों में जिस प्रकार अग्रणी हैं उसी प्रकार जीवन-सौंदर्य की व्याख्या में गतिशील हैं। उनकी भाषा कथा की आत्मा के साथ तादात्म्य लेकर चलती है। बालोपयोगी कहानियों में वे अद्भुत ढंग से सरस और सुबोध शैली को अपनाते हैं, छोटे-छोटे वाक्यों में चुस्त और गठी हुई भाषा से उनकी कहानियाँ निखर उठती हैं। देशी विदेशी साहित्य को मथकर उन्होंने बालकों के लिए अनेक काल्पनिक कहानियाँ गढ़ी हैं। उनको पढ़ते वे कभी थकते नहीं हैं। उनकी सतयुग की कहानियाँ, ऋषियों की कहानियाँ, देवताओं की कहानियाँ, ज्ञान की कहानियाँ, राजकुमारों की कहानियाँ राजकुमारियों की कहानियाँ, भाई बहनों की कहानियाँ, सुनहरी कहानियाँ आदि सुन्दर पुस्तकें हैं, जो उनकी सजीव भाषा शैली के कारण अद्भुत ओजमयी हो उठी हैं। उनके समालोचकों ने ठीक ही कहा है

कि वे कथा के मर्म को भाषा की साजसज्जा से रमणीय बना देते हैं उसका शृंगार कर देते हैं।'

प्रस्तुत संकलन में उनकी बालोपयोगी कहानियों में से एक भी नहीं ली गई है। कारण, इस संकलन का विषय बालकथाएं नहीं है। प्रौढ़ पाठकों के उद्देश्य से किया गया सक्सेना जी की कहानियों का यह संग्रह उनके कथा-साहित्य का एक खंड है। मेरा विचार है कि ऐसे ही तीन और खंडों में उनकी शेष कहानियों को भी संकलित कर दिया जाय। उनमें अंतिम खंड बालकथाओं का होगा। हिंदी पाठकों की बढ़ती हुई संख्या हमारे लिए एक बड़ा प्रोत्साहन है। मैं आशा कर सकता हूं कि यह कार्य शीघ्र संभव हो सकेगा।

इस संग्रह से यह स्पष्ट हो जायेगा कि हिंदी कथा-साहित्य को सक्सेना जी की देन बहुत बड़ी है और उसका यथार्थ मूल्यांकन होना अभी शेष है। जीवन के एक व्यापक क्षेत्र को उन्होंने अपनी कहानियों में व्याख्या प्रस्तुत की है और अनेक सजीव चरित्रों की अवतारणा करने में सफलता पाई है। साहित्य के क्षेत्र में एक युग पर्यन्त उन्होंने साधना की है,उसकी झांकी उनकी कहानियों के माध्यम से हमें प्राप्त होती है। साहित्य की बदलती हुई अभिरुचियों और स्थायी मूल्यों की संपदा से भी पाठक का परिचय कराने में वे समर्थ हैं।

शारदा भवन,
जयपुर

कृष्णजीवन भार्गव
संपादक

सूची

चित्र-परिचय

सामने नदी थी, उसके पार अस्त होता हुआ सूर्य और पीछे बहुत दूर सुरमई गोधूली की छाया। चित्रकार देवेन्द्र मामा जा रहा था। सतरंगे आकाश की गोद में भावों को जाग्रत करने सोने और चांदी की चादर ओढ़े लहरों में मग्न अनुभूति को सजीवता प्रदान करने। वह इस दौड़ में भी अपने को बहुत पीछे समझता था क्योंकि उसकी कल्पना पहले ही से वहां पहुंच चुकी थी। उसके पैर पूरी गति से आगे बढ़ रहे थे कि वह एकाएक रुक गया। वह ऐसे ठहर गया, जैसे ब्रेक हो जाने से मोटर ठहर जाती है और रास्ते के दाहिनी ओर मकान की दीवार से सटकर सशङ्कित शिकारी की तरह खड़ा हो गया, जिसके जरा हिलने डुलने से चिड़िया के उड़ जाने की शंका हो। उसके मुंह पर आनन्द का ऐसा विकास था और उत्तेजना ऐसी प्रबल हो उठी थी कि वह अपने को न रोक सका। मुंह से निकल ही गया, वही अच्छा है, तुम स्वयं ही नहीं जानते कि तुम कितने सुन्दर हो! नहीं तो पैरों से रौंदी जानेवाली धूल में लोटने की कभी इच्छा नहीं करते। सच तो यह है कि तुम्हारा स्थान ही संसार का सबसे मूल्यवान धन है।

दीवार के उस ओर एक अबोध बालक चित्रकारियां करता हुआ

अपने खिलौने के साथ धूल में खेल रहा था। कैसी मनोहारी छवि थी! मालूम पड़ता था, मानों संसार की चिन्ता की छाया वहाँ से हटकर भाग गई हो, या विश्वव्यापी कलुष की अन्धेरी रात का अन्त कर देने के लिये भगवान् अंशुमाली पृथ्वी की गोद में क्रीड़ा करने आ गये हों।

उसने बड़े ध्यान से वहाँ खड़े खड़े उस बालक की सरल चेष्टाओं को देखा। उसका अपूर्व सौकुमार्य, उसकी सिहरन चपलता का प्रत्येक उभार, कौतूहल-पूर्ण विश्व के प्रति उसका सरल मनोविकार, उसका अम्लान रूप उसके अंगों की फड़कन, यहाँ तक कि उसकी प्रत्येक भावभंगी को चित्रकार ने अपने स्मृति-कोष में बन्द कर लिया। प्राणायाम की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कोई आत्मा जब समाधि-मग्न होकर अनहद-नाद में तल्लीन हो जाती है, तो उसका बाह्य-ज्ञान शून्य हो जाता है। उसी तरह वह अपनी सुध-बुध भूल गया। उसे बालक की प्रत्यक्ष मूर्ति तक का ध्यान न रहा। उसे यह भी पता न चला कि कब बालक की माँ आकर उसे उठा ले गई। उसके स्मृति-कोष में जिस सर्वांग सुन्दर बालक की छवि हुई थी वह उसी के ध्यान में तन्मय हो रहा था, और उसी को जब बालक की साक्षात् मूर्ति समझकर, गोद में उठा लेने के लिये व्यग्रता के साथ बढ़ा, तो दीवार से सिर टकरा गया। ध्यान की माला बिखर गई। बालक को वहाँ न देखकर वह अपनी दशा पर आप ही लज्जा का अनुभव करने लगा। उसने पीछे फिरकर देखा कि कोई उसकी दशा पर तरस की हंसी तो नहीं हंस रहा है। इधर उधर दूर तक केवल सन्ध्या का अंधेरा और भी गाढ़ा हो रहा था। वह सिमटकर अपने रास्ते की ओर चल दिया।

नदी की लहरों पर अब भी इसकी लालिमा की दो-एक किरणें झलमला रही थीं। आकाश ने नीले रंग पर कुछ-कुछ सुनहले बादलों की चादर ओढ़ रक्खी थी। दृश्य मनोरम था, पर चित्रकार के मन में जिन स्वर्गीय कुसुमों का चयन हो रहा था, उनकी छटा ही निराली थी। उसने एक बार भी आँखें उठाकर अपनी स्वाभाविक व्यग्रता से नहीं देखा।

हाथ से निकला हुआ राज्य फिर प्राप्त करके जितनी खुशी हुमायूँ को न हुई होगी, उतनी खुशी उसे हो रही थी। उसकी नसों में आनन्द की सरसराहट फैल गई थी। न वहाँ से उठने की इच्छा होती थी, न कुछ देखने की। जिन आँखों में उस भुवन मोहन छवि का प्रतिबिम्ब पड़ चुका था, उनसे देखता भी और क्या! अपनी गरीबी की सारी कथा भूल गई थी। क्या ही आत्मविस्मृति थी! घर में, स्त्री के आँचल को नाच-नोचकर बच्चे चीख रहे होंगे। थिएटर के मालिक की नाक भौं जमीन आसमान के अवकाश नाप रही होगी। परदा कोई तैयार नहीं हुआ। आवश्यक दवाओं का प्रबन्ध भी कम हो गया। आमदनी बढ़ने की सूरत बिना मशीनता पैदा किए हो नहीं सकती। जीवन-समस्या उलझी हुई थी—पारिवारिक कष्ट बढ़ा हुआ था, फिर भी बेफिक्री की इतनी तल्लीनता और भविष्य की इतनी उज्ज्वल आशा!

बाहर चन्द्रमा का प्रकाश, कमरे में चित्रकार की तूलिका का रंग एक साथ ले फैल रहे थे, और उन्हीं के साथ उसकी अकल्पित कल्पनाओं की छटा बिखर रही थी। वह चित्र की एक-एक रेखा पर मुग्ध हो रहा था। अपनी अमर कला के गौरव पर उसका हृदय उछला पड़ता था। बेचारी

अपने खिलौने के साथ धूल में लोट रहा था। कैसी मनोहारी छवि थी! मालूम पड़ता था, मानो स्वर्ग की विभूति की छाया यहाँ से उतरकर भाग गई हो, या विश्वव्यापी कलुष की अन्धेरी रात का अन्त कर देने के लिये भगवान् इस शस्यश्यामली पृथ्वी की गोद में क्रीड़ा करने आ गये हों।

उसने बड़े ध्यान से वहाँ खड़े खड़े उस बालक की सरल चेष्टाओं को देखा। उसका अपूर्व सौकुमार्य, उसकी निर्द्वन्द्व चपलता का प्रत्येक उभार, कौतूहल-पूर्ण विश्व के प्रति उसका सरल मनोविकार, उसका अम्लान कम उसके अधरों की गठन, यहाँ तक कि उसकी प्रत्येक भावभंगी को चित्रकार ने अपने स्मृति-कोष में बन्द कर लिया। प्राणायाम की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कोई आत्मा जब समाधि-मग्न होकर अनहद-नाद में तल्लीन हो जाती है, तो उसका बाह्य-ज्ञान शून्य हो जाता है। उसी तरह वह अपनी सुध-बुध भूल गया। उसे बालक की मनमोहक मूर्ति तक का ध्यान न रहा। उसे यह भी पता न चला कि कब बालक की माँ आकर उसे उठा ले गई। उसके स्मृति-कोष में जिस सर्वांग सुन्दर बालक की छवि छुपी थी वह उसी के ध्यान में तन्मय हो रहा था, और उसी को जब बालक की साक्षात् मूर्ति समझकर, गोद में उठा लेने के लिये व्यग्रता के साथ बढ़ा, तो दीवार के सिर टकरा गया। ध्यान की माला बिखर गई। बालक को वहाँ न देखकर वह अपनी दशा पर आप ही लज्जा का अनुभव करने लगा। उसने पीछे फिरकर देखा कि कोई उसकी दशा पर तरस की हँसी तो नहीं हँस रहा है। इधर उधर दूर तक केवल सन्ध्या का अँधेरा और भी गाढ़ा हो रहा था। वह झपटकर अपने रास्ते की ओर चल दिया।

नदी की लहरों पर अब भी हलकी लालिमा की दो-एक किरणें झलमला रही थीं। आकाश ने नीले रंग पर कुछ-कुछ सुनहले बादलों की चादर ओढ़ रखी थी। दृश्य मनोरम था, पर चित्रकार के मन में जिन स्वर्गीय कुसुमों का चयन हो रहा था, उनकी छटा ही निराली थी। उसने एक बार भी आँखें उठाकर अपनी स्वाभाविक व्यग्रता से नहीं देखा।

हाथ से निकला हुआ राज्य फिर प्राप्त करके जितनी खुशी हुमायूँ को न हुई होगी, उतनी खुशी उसे हो रही थी। उसकी नसों में आनन्द की फुरफुराहट फैल गई थी। न यहाँ से उठने की इच्छा होती थी, न कुछ देखने की। जिन आँखों में उस सुन्दर मोहक छवि का प्रतिबिम्ब पड़ चुका था, उनसे देखता भी और क्या? अपनी गरीबी की सारी कथा भूल गई थी। क्या ही आत्मविस्मृति थी! घर में, स्त्री के आँचल को नोच-नोचकर बच्चे चीख रहे होंगे। थिएटर के मालिक की नाक-भौं ज़मीन-आसमान के दृष्टिकोण नाप रही होगी। परदा कोई तैयार नहीं हुआ। आजकल दर्शकों का उत्साह भी कम हो गया। आमदनी बढ़ने की सूरत बिना नवीनता पैदा किए हो नहीं सकती। जीवन-समस्या उलझी हुई थी—पारिवारिक कष्ट बढ़ा हुआ था, फिर भी बेफ़िक्री की इतनी तल्लीनता और भविष्य की इतनी उज्ज्वल आशा!

बाहर चन्द्रमा का प्रकाश, कमरे में चित्रकार की तूलिका का रंग एक भाव से फैल रहे थे, और उन्हीं के साथ उसकी अकल्पित कल्पनाओं की छटा बिखर रही थी। वह चित्र की एक-एक रेखा पर मुग्ध हो रहा था। अपनी अमर कला के गौरव पर उसका हृदय उछला पड़ता था। बेचारी

कलावती पति की यह दशा देखकर घबराहट से खड़ी हो गई। बच्चों की भूख-प्यास और गृहस्थी के प्रबन्ध का सारा कार्यक्रम उसे भूल गया। उसने आगे बढ़कर कहा—अरे! यह क्या!

चित्रकार के हाथ में चित्रपट काँप गया। उसने फिर-कर कलावती को देखा और मुस्कराकर कहा—क्या डरा रही हो!

'मैं डरा रही हूँ या तुम!'

"मैं!"

"हाँ—अभी-अभी क्या कर रहे थे! भगवान् जाने मेरा तो हृदय काँप गया।'

'तो आओ अब हम उसे शांत करें।"

'कोई जरूरत नहीं—पर मैं कहे देती हूँ। इस तरह पागलों जैसी हरकतें करके दूसरों को परेशान न किया करो।"

"बहुत अच्छा सरकार, पर जिसे देखकर मैं पागल हो सकता हूँ, उसमें कुछ अभूतपूर्व विशेषता होगी। यह तो तुम्हें मानना ही पड़ेगा।"

"बस, तुम यों ही बका करते हो। यहाँ रात दिन चिन्ता खाए जा रही है।"

"चिन्ता काहे की?"

"घर की—बच्चों की। तुम तो बाहर रहते हो, तुम्हें क्या पता, यहाँ तो हर समय मेरे सिर पर मूँग दली जाती है।"

"लो, देखा! परमात्मा ने चाहा, तो तुम्हारी ये सभी चिन्ताएँ सुख और आनन्द में बदल जाएंगी।"—यह कहकर उसने स्त्री के हाथों में

चित्रपट रख दिया।

पति की चित्रकला पर कलावती की आँखें हर्ष से सजल हो गई। आज उसने अपनी हीन दशा में भी अपूर्व गौरव का अनुभव किया। उसने कहा—"ऐसी सुन्दर और सजीव सृष्टि करनेवाला दुनियाँ की आँखों से कबतक छिपा रहेगा?"

"तुम्हारी जैसी प्रशंसिका पाकर भी छिपा रहूँगा ऐसा मैं नहीं समझता।"

"प्रशंसा तो नहीं, अगर कहो, तो इसका चित्र परिचय मैं ही लिख दूँ।"

"अवश्य—इसके लिये पूछने की क्या आवश्यकता?"

"तो इसका नाम जानते हो क्या होगा?"

"क्या होगा, बोलो तो सही।"

"साकार-शैशव।"

"भई वाह! यह तो कैसा अच्छा नाम है।"

तब कलावती ने चित्र के नीचे 'साकार शैशव' लिख दिया और एक उसी साइज की कापी लेकर उसका विस्तृत परिचय लिखने बैठ गई। कमाल की कल्पना थी। हेमेन्द्र बैठा अपनी स्त्री की लेखन प्रतिभा पर आश्चर्य और आनन्द से फूला न समाता था। चित्र शिल्प के बड़े बड़े आचार्य और पत्र-संपादकों की लेखनी जहाँ पर मौन और मन्द हो जाती है, वहाँ पर उछलती हुई भाषा का वह सजीव चित्र था किन्तु उस सारे कौशल में सात्विक और आदर्श-जीवन की झलक के साथ साथ

एक प्रकार की गूढ़ात्मक-करुणा की छाया,लेखिका के अपने जीवन का प्रत्यक्ष प्रतिबिंब होकर पड़ रही थी। फिर भी ऐसा सुन्दर चित्र-परिचय एक अपूर्व साहित्यिक प्रयास था।

कलावती की कोमल उँगलियों ने लिखना समाप्त किया, और चित्रकार ने उन्हें पकड़कर चूम लिया। उसने अपना हाथ खींच लिया, और कुछ कहने को ही थी कि नीचे से थिएटर के नौकर ने आवाज दी। सब काम बन्द हो गए। दोनों विस्मृति और सौंदर्य-कल्पना के स्वर्ग से उतरकर फिर मृत्युलोक में आ गए। चित्रकार के सामने थिएटर हाल की गैलरी में घूमते हुए परदों का दृश्य आ गया, और कलावती को मिठाई के लिये रूठे हुए बच्चों का। उसने पति के सामने गृहस्थी की कठिनाइयों को पेश किया। चित्रकार प्रबन्ध करने का आश्वासन देकर बाहर निकल गया। कलावती ने चित्र और उसका परिचय दोनों लेकर बक्स में रख दिए।

× × ×

उस सन्ध्या के समय रायल प्रदर्शनी के चित्र कक्ष में "साकार-शैशव" की धूम मच रही थी। सारी प्रदर्शनी की भीड़ उसी चित्र पर उमड़ी पड़ती थी। देवेन्द्र भी जब अपनी विचित्र वेश-भूषा के साथ चित्रकक्ष में गया, और उस कौतूहल-पूर्ण कलाकृति को देखने के लिये जाने लगा, तो लोगों ने उसे बुरी तरह से धक्का देकर एक ओर कर दिया। उसका दिल दुखा जरूर, पर संसार के ऐसे अनेक अनुभव उसे अक्सर हो चुके थे. इसलिये वह अपनी लालसा को दबाकर चुपचाप दूसरी ओर

चला गया।

बाहर निकल कर उसने जहाँ देखा, वहाँ लोगों की जिह्वा पर "साकार सैलाब" और चित्रकार 'हमेंद्र' का ही नाम सुन पड़ता था। क्षण भर के लिये हेमेंद्र ने सोचा कि वह पागल तो नहीं हो गया है। उसने कभी कोई चित्र किसी नुमाइश में नहीं भेजा था। वह फिर से एक बार चित्रकक्ष में जाने को व्यग्र हो उठा।

इस बार वह बलपूर्वक भीड़ को चीरकर वहाँ पहुँच गया। चित्र को ध्यान से देखा, पहचाना और आनन्द से उछल पड़ा। उसे आश्चर्य तो इस बात का हुआ कि वह यहाँ आया कैसे? उसी विचार में डूबा वह बढ़कर चित्र को उठाने लगा, त्यों ही पीछे से गार्ड का लम्बा चाबुक उसकी पीठ पर पड़ा। वह तिलमिलाकर चीख पड़ा, पर किसी ने सुना नहीं। एक-दो सेकंड में भीड़ का धक्का खाकर वह समुद्र की लहरों के फेन की तरह बाहर आ पड़ा। वह हर्ष और तिरस्कार के मिश्रित भाव में उस पार चला गया, जहाँ लोगों की मंडलियाँ उस चित्र तथा चित्रकार की प्रशंसा करके अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दे रही थीं।

एक पढ़ी-लिखी युवती अपने साथी युवक से कह रही थी—चित्रशिल्प का ऐसा नमूना मैंने तो जीवन में नहीं देखा। भावभंगी और शरीर सौंदर्य का इतना सूक्ष्म और हृदयहारी मेल विरले ही देखा जाता है।—वह कुछ और कहने जा रही थी, पर हेमेंद्र के आ जाने से चुप हो गई।

हँसमुख युवक ने हमेंद्र की उपस्थिति का विचार न करके कहा—पर शायद उन उँगलियों को तुम्हारे हाथों की मिठास की जरूरत न होगी।

"बस तुम्हें इसके सिवा कुछ और भी आता है? कभी किसी की प्रशंसा भी करते हो?"

"प्रशंसा करने के लिये एक आदमी बहुत है। प्रशंसकों की प्रशंसा के लिये भी तो किसी को रहना चाहिए?"

"अरे वाह!"

"खुश हुईं न?"

"नहीं—आज तो मैं तभी खुश हूँगी, जब उस चित्रकार और 'चित्र परिचय' लेखिका से साक्षात्कार कर लूँगी।"

"तो क्या मैं समझूँ कि चिड़िया उड़ गई?"

"आप जो समझ लेना। मैं तो—" हेमेंद्र बीच ही में बोल उठा—"अभी वहाँ जाकर क्या करोगी? वह अभागा तो कभी का लापता हो चुका है।"

युवक— "आप उसे जानते हैं?"

हेमेंद्र—"खूब।"

युवती—"कब लौटेगा?"

हेमेंद्र— "यहीं, दो-तीन रोज में।"

युवक—"आप आ गए, नहीं तो अभी—"

युवती ने युवक को हाथ के संकेत से चुप कर दिया। हेमेंद्र वहाँ से लौट पड़ा। प्रशंसा की उन्मादिनी मदिरा पीने से उसके पैर इधर-उधर पड़ रहे थे। पर पहुँचते पहुँचते मन में यही एक ग्लानि रह गई कि युवती के सामने अपने आपको प्रकट करके क्यों न गौरव-पूर्ण प्रशंसा के ऊपर

शब्दों से कानों को सार्थक कर लिया ।

× × ×

'साकार सौन्दर्य' पर प्रदर्शनी में पहला पुरस्कार मिला । यह पढ़कर कलावती का हृदय हर्ष से उछल पड़ा । उसकी मुरझाई आत्मा वसंत की नवीन लता की तरह खिल उठी । कागज को एक बार फिर खोलकर पढ़ा । अहा ! कैसे सुन्दर सजीव सोने की स्याही से लिखे हुए वे अक्षर मालूम पड़ते थे ।

हेमेंद्र कमरे से निकला । कलावती ने लिफाफा तो पाकेट में छिपा लिया, पर होठों के भीतर आवश्यकता से अधिक भरी हुई खुशी की स्वच्छ मुस्कराहट न छिप सकी ।

हेमेंद्र ने कहा—"ऐसी अमूल्य वस्तु छिपे छिप क्यों लुटाए देती हो कला ?"—कलावती ने हँस दिया । कुछ बोली नहीं ।

"मन में मोर नाचा—व्यर्थ । वही हँसी किसी कद्रदान की नजर में पड़ जाती तो—"

"बस-बस, रहने दो । तुम्हारी इस तरह की बातों के लिए मुझे अवकाश नहीं है । मैं काम से जा रही हूँ ।"

"किस काम से ?"—कहकर हेमेंद्र ने उसका हाथ पकड़ लिया ।

"वाह देख न लेना । हरएक बात की कहानी कौन कहे ।"

"हाँ तो अब इसी तरह रूठी रहोगी । बात करने का समय भी

न निकल सकेगा ?"

"नहीं।"

"खूब, आप ही अपराध करें और आप ही दंड की व्यवस्था। यह तो असहनीय अत्याचार है, कला।"

"असहनीय ?"

"हाँ"

"क्यों ?"

"क्योंकि तुमने बिना पूछे तस्वीर भेजी ही क्यों भला ? कहीं गड़ हो जाय—खो जाय ?"

कला ने हल्की हँसी छिपाकर उत्तर दिया—"अपनी चीज के लिए कोई पूछने की जरूरत नहीं समझता। फिर मैं ही क्या ऐसा करती।"

"अच्छा"

"और अगर एक तस्वीर खो भी जाय, तो कौन बड़ी बात है ? फिर भी तो बन सकती है।"

रमेश उत्तेजित होकर कुछ कहना चाहता था, पर कला की खिलखिलाहट से कुछ दब गया और उसके मुँह की ओर किंचित् आश्चर्य से देखने लगा।

कला ने कहा—"बात मानो, यह खो नहीं सकती।"

"तभी मानूँगा, जब मेरे हाथ में आ जाए।"

इसी समय बालक ने आकर कहा—"बाहर कोई आये हैं।"

कलावती समझ गई। उसने पहले अपने ही मुँह से पति को

शुभ समाचार सुनाने का संयोग आने न देना चाहा। उसने प्रसन्न मुद्रा में एक लिफाफा निकाला और पति को पुकारकर देना ही चाहती थी, कि वह 'अभी आया' कहता हुआ चला ही गया।

बाहर कई भले घरों की महिलाएं और पुरुष मौजूद थे। पहले तो उन्होंने हेम को पागल से अधिक कुछ नहीं समझा, पर बातचीत होने पर सबने बड़े आदर और कौतूहल से उससे हाथ मिलाए। उनमें सभी ने उसकी चित्रकला की प्रशंसा की, और उसके दर्शन पाकर अपने को धन्य माना। हेम हक्का-बक्का हो गया। इतने प्रतिष्ठित लोगों ने उसकी प्रशंसा की। जिन सुन्दरियों के रूप सौंदर्य के लिये लोग सर्वनिष्ठता की रचना पर मुग्ध हो जाते हैं, वे भी उसके चित्र की प्रशंसा में गद्गद् कंठ से न जाने क्या क्या कह गई।

कलावती की इच्छा पूरी न हुई। हेम को सब समाचार बाहर ही मिल गया। आगत समुदाय ने अनुरोध किया कि हेम कुछ देर के लिए उनके साथ चलकर उस आयोजन में शामिल हो जावे जो वे उसके सम्मान में आयोजित कर रहे थे। हेमेंद्र भी इनकार करना नहीं चाहता था, फिर भी इस समय उसने असमर्थता बताकर कुछ देर बाद पहुँचने का समय देकर अपने गौरव को प्रदर्शित किया।

वे लोग जाते-जाते अनुरोध कर गये और कह गये कि उसके लिये ठीक समय पर गाड़ी आ जायगी। हेमेंद्र प्रफुल्लित वदन घर के भीतर लौट गया।

कलावती मन ही-मन पछताकर बार-बार पत्र को पढ़ रही थी कि

हेम ने चुपचाप आकर उसे सहास्य आलिंगन करके कहा—मैं नहीं जानता था कि तुम इतनी चतुर हो!—सचमुच तुम्हारी जीत हुई!

क्यों—क्या हुआ?—कहकर कला मुस्कराने लगी।

अब तुम प्रसिद्ध कलाकार की पत्नी हो गई। मामूली चित्रकार की स्त्री कहलाना तुम्हें पसन्द नहीं था—क्यों न?—तभी गुपचुप इतना बड़ा प्रपञ्च रच डाला।

कला रत्ती-रत्ती समझ गई, पर तनिक बनकर बोली—क्या कहते हो? मैं कुछ नहीं समझती, साफ साफ कहना हो तो कहो।

इसीसे—अजी, कह तो दिया कि अब तुम एक संपन्न और विभुत पति की पत्नी बन गई।

"ऊँहुँ?"

"नहीं समझीं—तुम्हारे 'साफर शेराब' ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया है।—और, और चित्रशाला प्रेस की मालकिन आकर तय कर गई है। पांच सौ रुपया मासिक का स्थान मुझे मिल गया है। कल इकरारपत्र पर हस्ताक्षर हो जायेंगे।"

इस अन्तिम संदेश से कला और भी प्रसन्न हो उठी। उसके कंठ से उस समय कोई बात नहीं निकली। कुछ ठहरकर उसने पूछा—सच सच बताओ।

"सच सच ही कहता हूँ, कला।"

"तुम्हीं देखो—अच्छा, अब तो मुझसे नाराज न होगे?"

हेम ने एक चुम्बन का भी आशी बनाकर कहा—"नहीं,

कमी नहीं !"

कला से न रहा गया। उसने हाथ का पत्र खोलकर हेम की गोद में रख दिया। दोनों गद्‌गद् हो गए।

× × ×

अब हेमेंद्र सम्मानित चित्रकार है। 'साकार प्रेम' के बाद से उसकी मान-प्रतिष्ठा चंद्रमा की किरणों की तरह सर्वत्र व्याप्त हो गई है। धन-संपत्ति की कमी नहीं रही है। यही नहीं, चित्र का परिचय लिखकर कलावती भी मान्य पति की उपयुक्त अर्धांगिनी हो गई है। अब उसे घर के छोटे-छोटे कामों में अपनी शक्ति नहीं लगानी पड़ती। चित्रकला में अभिरुचि होने के कारण वह अधिकतर चित्रशाला में ही रहती है।

एक दिन वह कुरसी पर पड़ी कुछ सोच रही थी। शायद किसी सुन्दर चित्र की कल्पना कर रही होगी। दो चित्र हाथ में लिए हेमेंद्र बाहर का द्वार खोलकर उसके पास आ गया। आते ही उसने ऊँचे स्वर में पुकारा—कला।

कलावती—क्यों, मैं तो जाग रही हूँ—सोई नहीं।

हेमेंद्र—बस, आज से हमारा काम समाप्त हो गया।

कलावती बात को बिलकुल न समझकर घबराहट के स्वर में बोली—आखिर बात क्या है ?

उत्तर में हेमेंद्र ने दोनों चित्र कलावती को देते हुए कहा—कला से जो महानतम उद्देश्य सिद्ध हो सकता है, वह हो चुका। हमने जिसकी आशा नहीं

की थी, वह हमें मिल गया। फिर और क्या चाहिए? सो दोनों चित्र ध्यान से देखो। इसकी बदौलत हमें जो कुछ मिला है, वह संसार में किसी कलाकार को नहीं मिला।

कलावती ने देखा, एक था वही उसका चिर-परिचित 'साकार शैशव' उसे देखकर एक बार फिर क्षणभर के लिए कला स्मृति-लोक में पहुँच गई। उसका हृदय गद्गद् हो उठा। उसके उपरांत उसने दूसरा चित्र देखा। इस बार उसका सारा शरीर आँधी से झकझोरी हुई लता की तरह काँप उठा। ऐसी कठोर और अमानुषिक आकृति उसने पहले कभी न देखी थी। उसकी स्त्री-सुलभ आँखें चित्र की भयंकरता को न सह सकीं। उसने भयभीत होकर उन्हें बन्द कर लिया। उसने सशंकित स्वामी से कहा—हटे आओ, घोर भगवान्! इसे तो देखते ही डर लगता है। भला इसे बनाया किसने है?

देवेन्द्र ने हँसकर चित्र कलावती के हाथ से ले लिया, और कहा—जिस एक भयानक देखकर तुमने उपेक्षा से लौटा दिया है यदि उसकी कथा सुनो, तो निश्चय है कि तुम उसे अवश्य ही पसंद करने लगोगी। कथा की पृष्ठभूमि के साथ ही इस चित्र का महत्व है।

कला—नहीं, ऐसे चित्र को मैं कभी पसंद न करूँगी। मेरा हृदय पाषाण नहीं है।

देवेन्द्र—तुम्हारा हृदय नितांत कोमल और भावुक है। बस, इसीलिये मैं कहता हूँ कि तुम उस सहानुभूति की दृष्टि से देखोगी—मैं जानता हूँ कला, तुम उतनी अमानुषी नहीं हो।

कलावती ने स्वामी की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप उसकी बातों को सब सुनती रही।

थोड़ी देर ठहरकर देवेंद्र फिर बोला—अच्छा सुनो, ऐसी ही कृति की इच्छा मैं बरसों से कर रहा था। मैंने कल्पना के आधार पर अनेक चित्र बनाए भी, पर किसी में अनुरूप और स्पष्ट चित्रण नहीं बन पड़ा। कल्पना दौड़ते-दौड़ते एक हद पर आकर रुक जाती थी। विश्व की मूर्तिमान् असन्तुष्टिकता का सजीव चित्र न मैंने कहीं देखा, न अब तक मैं स्वयं ही बना सका। तुम जानती हो अनेक बार दूर-दूर राज्यों के कारागारों का निरीक्षण रूप मैं यों ही करता फिरा था। उसका उद्देश्य केवल यही था—आखिर एक महाविकराल, यमराज की तरह भयावनी मूर्ति मुझे मिली। बिना पर्याप्त सामग्री के भावों और कल्पनी में धारावाहिनी शक्ति नहीं आती। उस मानव मूर्ति को देखते ही मैं उसका चित्र बनाने लगा। अनेक वर्षों की संचित कल्पना के साथ वास्तविकता ने मिलकर क्षणों में चित्र तैयार कर दिया। इतनी जल्दी ऐसा सुन्दर चित्र बन जाने की मुझे कदापि आशा न थी—इसी से मारे हर्ष के मुझे बेतहाशा हँसी आ गई। मुझे हँसते हुए देखकर उसने उपेक्षा के भाव से सिर हिला कर पूछा—क्यों, क्या बात है?

उस एकांत स्थान में उसके भीम-स्वर को सुनकर एक बार मेरा हृदय दहल गया। उसने फिर पूछा—क्या कुछ गहरी रकम हाथ लगी है? इतना हँसने क्या हो?

उस समय मेरे पास और कोई उपाय नहीं था। चित्र उसके सामने रखना ही पड़ा, पर इस विचार से कि कहीं वह अप्रसन्न होकर मेरे

ऊपर कुछ दे न मारे, मैंने हाथ में 'साकार शैशव' भी रख दिया। उसने एक बार इस चित्र को गौर से देखा, फिर अपने शरीर को मरोड़कर कहा—ओह! तो मैं क्या ऐसा ही दीखता हूँ!—मैं उसकी लाल-लाल आँखों और क्रोध के चढ़ाव उतार के भावों को देखकर अपनी कुशल क्षेम की प्रार्थना कर रहा था। थोड़ी देर में वह दूसरा चित्र भी गौर से अवलोकन करने लगा। इस बार उसके मनोविकारों में जो परिवर्तन आया उसे देखकर तो मैं कुछ भी निश्चय न कर सका। क्षण भर में ही वह एक मर्म से बालक की तरह बिलख बिलखकर रोने लगा। उसने मेरे पैरों पर अपना माथा रखकर अत्यन्त दीन स्वर में कहा—बाबा, मैंने तो सब कुछ खो दिया। हाय! अब मैं क्या करूँ? एक दिन जो अमूल्य धन मेरे पास था, उसे मैंने मृग तृष्णा के लोभ में पड़कर गँवा दिया।

उसकी अनुतप्त हृदय की करुण पुकार से मेरा हृदय द्रवित हो गया। मैंने उसके भीगे हुए चेहरे को अपनी गोद में रखकर कहा—कहो तो क्या हुआ? ऐसी कौन सी बात हो गई है, जो लौटाई नहीं जा सकती? उसने अपने मस्तक को मेरी गोद से अलग करते हुए कहा—बाबा मैं, महापातकी हूँ। मैंने अपना अनन्त धन लुटाकर थोड़े-से खून में भीगे हुए हीरे मोती इकट्ठे किए हैं। मैं नितांत दैन्य और घृणित हूँ। उस चित्र में जो कुछ भ कित है, वह सब मेरे पास भी था पर हाय! संसार के वैभव से भी परम पुनीत उस सरलता को गँवाकर आज मैंने क्या बटोर रक्खा है? तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं, पर क्या अब वह लौटाया जा सकता है?—नहीं मैं आज रौरव का कीड़ा हूँ। अब इस जीवन में मेरा उद्धार कहाँ?

मैंने उसका सिर अपनी गोद में लेकर स्नेहपूर्ण शब्दों से उसे ढाढ़स दिया—अरे यह क्या कहते हो। तुम्हारा पश्चात्ताप फिर से तुम्हें तुम्हारी संपत्ति दिला सकता है। उठो तो सही, वत्स—तुम्हें तो संध्या होने से पहले ही अपनी भूल का पता लग गया है।

उसने उसी समय उठकर मेरे चरणों की धूल को सिर पर लगाया, और प्रतिज्ञा की कि वह अब से कोई भी दुष्कर्म न करेगा।—सुनता हूँ, उसका जीवन बदलकर एक पवित्र और सरल बालक की भाँति हो गया है।

कलावती ने विस्मय के साथ पूछा—ऐं! क्या सच कहते हो?

हेमेन्द्र—हाँ बिलकुल सच। भला, इससे बड़ा खजाना और हमें अब क्या मिल सकता है—मैं समझता हूँ, अब इस दूसरे चित्र का भी परिचय लिखना तुम पसन्द करोगी।

कला—परिचय तो तुम ने सुना ही दिया है। अब मुझे लिखने की क्या आवश्यकता है? पर हाँ, लाओ, मैं एक बार उस चित्र को गौर से देखूँ तो सही।

नलिनी

नलिनीप्रभा बंबीय रंगमंचकी प्रधान अभिनेत्री थी। उसके लिये प्राच्य और पाश्चात्य दोनों प्रकार का अभिनय सफलतापूर्वक करना एक साधारण बात थी। उसने शेक्सपियर के ड्रामों में नाम पैदा किया था। शॉ और इब्सन के अभिनय में वह अपना सानी नहीं रखती थी। जापान में जब उसने जापानी नाटकों का अभिनय किया, तब टाकियों में इतने संदेश प्रेषित किये गये कि उनका परिचय देने में पत्रों को कालम के कालम रंगने पड़े। यह खबर जब रूटर के द्वारा कलकत्ते आई, तब भारतीय पत्रों में भी उसकी लम्बी-चौड़ी चर्चा होने लगी। एक फिल्मवाले ने अपना पुराना एलबम निकाल कर तेरह चित्रों में कालिदास की शकुन्तला का अभिनय करते हुए नलिनी को दिखलाया। यह अभिनय तीन बरस पहले किया गया था। उस समय नलिनी का चौदहवाँ साल शुरू हो रहा था।

प्रसिद्धि के इसी दौर में नलिनी ने कैलीफोर्निया की यात्रा की। जहाँ मेरी पिकफोर्ड, चार्ली चैपलेन, डगलस फेयर बैंक्स जैसे कलाकार संसार में हलचल मचा देनेवाले चित्रों की भूमिका में उतरते हैं, वहाँ नलिनी की धूम मच गई। जगह जगह पोस्टर्स, प्लेकार्ड्स, चित्र और विज्ञापन चिपक रहे थे। प्रात और सायंकालीन पत्रों में केवल एक ही चर्चा थी, 'पूर्व की रानी' नलिनी का चित्ताकर्षक अभिनय।

थियेटर हाल की गैलरी में तिल रखने को जगह नहीं थी। अपार जनसमुदाय का प्रत्येक व्यक्ति कौतूहलपूर्ण नेत्रों से अभिनेत्री नलिनी की बाट देख रहा था। तालियों की करतलध्वनि के बीच एक टेलीग्राम हाथ में लिये जब नलिनी ने उपस्थित जनता से क्षमा माँगी तो हाल में गम्भीर शान्ति का सा सन्नाटा छा गया। तार नलिनी के घर से आया था। उसमें उसके एकमात्र सहोदर का निधन-संवाद था।

अगले दिन सवेरे छूटनेवाले मेल स्टीमर से विषाद मलिन नलिनी जाने को तैयार हो गई। जब वह जा रही थी, तो एक भारतीय युवक ने समवेदना के स्वर में उससे कहा—"हमारा दुर्भाग्य है कि आपको इतनी जल्दी यहां से जाना पड़ा। आपका यह दुःख भूलनेवाला नहीं। ईश्वर आपके भाई की आत्मा को शान्ति दे।"

नलिनी ने रुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया—"कौन जानता है, भगवान ने क्या समझकर ऐसा किया! आपकी इस कृपा के लिये मैं सदा कृतज्ञ रहूँगी।"

फिर नलिनी ने उससे हाथ मिलाया और जाकर केबिन में अपना मुँह छिपा लिया, पर वह युवक अपना रूमाल हाथ में लिये तब तक खड़ा रहा, जब तक वह दृष्टि से ओझल नहीं हो गया।

युवक का नाम तारचन्द था।

जैसे जैसे कल-कत्ता पास आ रहा था, नलिनी का शोकावेग बढ़ता जाता था। व्यथा के भार से दिनों में उसका सारा सौन्दर्य, सारी शोभा, न जाने कहां विलीन हो गई थी। किन्तु जब उसने दूसरे स्टीमर में विपिन को

मुख देखा, तो आनन्द से पागल हो गई। जिसकी मृत्यु के लिये शोक संताप करती हुई, निराश और विषाद मग्न वह आ रही थी, उसी भाई ने जब उसका हाथ पकड़, सब रहस्य हँस हँसकर समझा दिया, तो नलिनी का मन उल्लास से विकसित हो उठा, पर भाई के भावी संकट की आशंका का विचार करके वह चिन्तित भी कम न हुई।

[दो]

नलिनी का जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था, लेकिन उसकी माँ बड़ी रूपवती और सम्पन्न घराने की थी। पिता को ससुराल से पर्याप्त धन मिला था, पर वह उन्हें पचा नहीं। रुपया हाथ में आते ही उन्हें अनेक दुर्व्यसन लग गये। जब उनकी मृत्यु हुई, तो नलिनी की माँ एक दम निराश्रय हो चुकी थी। उनके मायके में भी कोई न रह गया था। इसके बाद जो भी दिन आया वह उन्हें दरिद्रता और दुःख की ओर घसीटता ले गया। जब उन्होंने नौ बरस की नलिनी और पाँच बरस के विपिन को छोड़ा था, तब उनके पास दो आँसुओं के सिवा और कुछ न था, और वे ही दो आँसू अपने प्यारे बच्चों की गोद में गिराकर उन्होंने सदा के लिये आँखें बन्द कर ली थीं; पर उसी दिन से अबोध, अजान, बेचारी नलिनी की आँखें खुल गई। उसे किसी-न-किसी भाँति भाई की रक्षा का विधान करना पड़ा। अनेक कष्टों को झेलकर नलिनी ने विपिन का लालन-पालन किया। जब विपिन कुछ-कुछ बड़ा होने लगा, तो उसकी इच्छाएं और आकांक्षाएं भी बढ़ने लगीं, पर उनके भार को सहन करने लायक कोई युक्ति नलिनी के

पास न थी। आखिर उसने एक दिन घर से निकलकर अपना सर्वस्व भाई के लिये उत्सर्ग कर दिया, और जाकर एक वेश्या के यहां नौकरी कर ली। वहीं से धीरे धीरे उसने स्टेज पर प्रवेश किया।

विपिन को हर तरह की सहायता करते हुए भी उसने किसी पर यह प्रकट नहीं होने दिया था कि वह उसकी बहिन है। नलिनी ने इतना धन कमाया था कि विपिन को रुपये पैसे की कमी न रही। वह बराबर पढ़ता हुआ बी० ए० में पहुँच गया। जब उसने नलिनी को अपनी मृत्यु का तार भेजकर बुलाया था, तो वह बी० ए० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो चुका था। उसके विवाह के लिए आग्रह होने लगा था और एक अच्छे घराने की लड़की से बातचीत चल रही थी। विपिन जानता था कि कैसे नलिनी कभी नहीं आयगी क्योंकि वह विपिन की बहिन बनकर उसे समाज के सामने नीचा नहीं बनाना चाहती थी।

नलिनी ने विपिन को बहुत समझाया, पर उसने एक न सुनी। आखिर भाई के हठ के सामने उसे अपना निश्चय त्यागना पड़ा। विपिन और नलिनी का संबन्ध तथा तार की असारता का मनोरंजक वर्णन लोगों ने दिलचस्पी से पढ़ा। पर जब पढ़े हुए शिक्षक की परवाह न करके लड़की के पिता ने दूसरी जगह लड़की का ब्याह तय कर दिया, तब विपिन को मालूम हुआ कि समाज का शासन उसके वैभव और उसकी योग्यता की तनिक भी चिंता नहीं करता।

[तीन]

ताराचन्द को नलिनी का रूप-लावण्य बहुत समय तक नहीं

सूना। वह जब-तब यही विचार करने लगता कि क्या उसका हृदय भी वैसा ही सुन्दर हो सकता है!—लेकिन तुरन्त ही सोचता कि अगर हो भी तो उसे क्या!

ताराचन्द एक निर्वासित देशभक्त युवक था। उसने आजन्म अविवाहित रहने का संकल्प किया था। एम० ए० पास करके वह स्विट्जरलैण्ड, जर्मनी, रूस आदि देखता हुआ अमेरिका पहुँचा था। यहीं उसने नलिनी को देखा था। उसे मातृभूमि में आने की इजाजत नहीं थी। भारत सरकार की दृष्टि में वह अवांछित व्यक्ति था। उसे देश में क्या कर आने दिया जाता! उसके लेख और भाषण सरकार की दृष्टि में राजद्रोह की आग फूंकनेवाले थे। ऐसे आपत्तिजनक युवक को देश में आने देना कहां तक उपयुक्त था!

इन सब कारणों से नलिनी के प्रति स्नेह का लगाव रहने पर भी वह यह नहीं सोच सकता था कि इस जीवन में फिर कभी उनकी भेंट हो सकेगी।

जिस समय नलिनी को भाई का तार मिला। उसी दिन ताराचन्द को नलिन के विवाह का समाचार मिला। हर्ष और विषाद की एक अपूर्व स्थिति में उसका जी किसी काम में न लगा। वह पिक्चर देखने चला गया। जी को बहुत भुलाने का यत्न किया परन्तु सफल न हुआ।

नलिनी जब जहाज में चढ़ने लगी तो उसने द्रवित कंठ से उससे दो चार समवेदना सूचक शब्द मात्र कहे। नलिनी अश्रुपूरित नैनों से उसकी

और वाकवी ताकवी विदा हुई।

× × ×

मालूम नहीं किसके सौभाग्य का सितारा उदय हुआ, कि कुछ दिनों बाद ही ताराचन्द को भारत आने की अनुमति मिल गई। परन्तु अब वह नौकरी को भूल चुका था। उसे घर आने की कैसी खुशी हो रही थी, वह कौन बता सकता है। जो जीवन भर के लिये निराश हो चुका हो, वही इसका अच्छी तरह अनुभव कर सकता है। पर उसकी इस खुशी में भी एक बात रह-रहकर खटकती थी कि चार महीने पहले यदि आज्ञा मिल जाती, तो वह प्रतिमा का विवाह भी देख लेता।

उसे स्वप्न में भी यह अनुमान न था कि वह ठीक अवसर पर ही पहुंच रहा है।

यह देख कर आनन्द से उसका हृदय उछलने लगा कि प्रतिमा वधू बनी खड़ी है और अपने मनोनीत पति के गले में वरमाला डाल रही है।

विवाह कार्य संपूर्ण हो जाने पर ताराचन्द के पिता शिवचन्द ने कहा—प्रतिमा का पहला सम्बन्ध अच्छे के लिए ही टूट गया था अन्यथा तुम विवाह न देख पाते।

ताराचन्द—तो पहले अन्यत्र विचार था।

शिवचन्द—हाँ, तय ही हो चुका था।

ताराचन्द—कहाँ।

उत्तर में शिवचन्द ने विपिन का नाम लिया और उस सम्बन्ध में

नलिनी की भी चर्चा चलाई। नलिनी के पतित जीवन के प्रति अनेक लांछना भरे शब्द कह कर उन्होंने इस बात पर संतोष प्रकट किया कि बात समय से पूर्व प्रकाश में आ गई। यदि कुछ दिन की देर हो जाती तो कुल की मर्यादा में कलंक का धब्बा लग जाता।

ताराचन्द को नलिनी की भूली हुई याद आ गई। वह क्षण भर स्तब्ध बैठा रहा। उसे चुप बैठा देखकर शिवचन्द बोले—आश्चर्य तो इस बात का है कि विपिन देखने में इतना सुशील है पर भीतर कितना फरेब भरा है!

ताराचन्द—फरेब की इसमें क्या बात है?

शिवचन्द—ओह, तुम नहीं जानते। उसे पहले ही बताना चाहिए था। पिता के आचरण में कोई कुल-कलंक को कैसे छिपा सकता है!

ताराचन्द ने चुपचाप गर्दन नीची कर ली। शिवचन्द ने समझा बेटे के मन पर उनकी बातों का प्रभाव पड़ रहा है। वे इससे उत्साहित होकर बोले—इस घटना से सभ्य-समाज में विपिन की बड़ी किरकिरी हुई। वह किसी को मुंह दिखाने लायक नहीं रहा।

ताराचन्द की चेतना कुण्ठित हो गई थी। पिता की बातें वह सुन रहा था पर जैसे उनके भावार्थ को ग्रहण नहीं कर पा रहा था। अकस्मात् शून्य दृष्टि से कमरे के बाहर की हरी दूब पर वह कोई खोई चीज जैसे खोज रहा था। शिवचन्द कहते गये—वह अपनी बहिन को लेकर दूर देहात में कहीं चला गया है। स्वर्ग भ्रष्ट त्रिशंकु की तरह देहातियों के बीच वे दोनों रह रहे हैं। इस जीवन में इससे अधिक की कामना उन्हें नहीं करनी चाहिए।

ताराचन्द को एक धक्का सा लगा। वह चौंक पड़ा, बोला—वे कहां रहते हैं।

शिवचंद—अशीश सा नाम है गांव का। मुझे तो याद भी नहीं। एक दुःस्वप्न की भांति मैं उस वर्ष को ही समाप्त कर देना चाहता हूं। अपने परिवार के साथ अशीश के उससे सारे सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो चुके हैं।

ताराचन्द को लगा कि वह उसी क्षण दौड़ा दौड़ा उनके गांव में पहुंच गया है। आंखों में अपमान के आंसू भरे मल्लिनी प्रभा उसके सामने खड़ी उसे मौन उलाहना दे रही है। वह उससे पूछ रही है कि कौन से कलंक की कालिमा से उसका आंचल मलिन हो गया है जरा वह बताये तो सही और फिर यह भी बताये कि सभ्य-समाज में, कुलीनों की मण्डली में, कौन निष्कलंक है!

ताराचंद उछल पड़ा, बोला—जो हो गया वह लौटाया नहीं जा सकता। उस पाप के लिए मैं अभी भागी हूं। अपना समझकर उसे क्षमा करें और मुझे आदेश दें कि जो कुछ बस में है वह करके मैं उसका परिमार्जन कर सकूं।

ताराचंद की चेतना लौट आई। उसने कहा—आपसे नहीं मैं विपिन से कह रहा था। उसी से मैं क्षमा मांग रहा था। उसके साथ और मल्लिनी के साथ भारी अन्याय हुआ है। मैं उनके पास जा रहा हूं। मैं उसका परिमार्जन करूंगा।

शिवचंद—अन्याय हुआ है! तुम जा रहे हो क्षमा मांगने, परिमार्जन करने।

ताराचंद—हां, मैं जा रहा हूं। पिताजी, मैं आपके चरण छूता

नलिनी]

हूँ आप आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने कार्य में सफल बनूँ।

शिवचंद—अरे, बेटा! तुम कहां भाग रहे हो? तुमने यह कैसी शिक्षा पाई है?

ताराचंद—मेरी शिक्षा मानव की स्वाधीन चेतना की कद्र करने वाली है। बरबस पकड़कर जिस नलिनी का अपमान किया गया है उसे मैं ग्रहण करूंगा। उसे मैं शिरोधार्य करूंगा। उसे मैं देवी के पद पर आसीन करूंगा।

जबतक शिवचंद कुछ कहें तब तक वह तेजी से निकल गया। उनके ये शब्द भी उसके कानों में इस प्रकार पड़े—पागल लड़का। बाप-दादों की कमाई फूंक रहा है। जब स्वयं कमाकर संचित करेगा तब मालूम पड़ेगा।

[चार]

आंधी और तूफान आते और निकल जाते हैं। उसके बाद वातावरण शान्त स्निग्ध हो उठता है। ताराचंद के आग्रह को अन्त में विपिन ने मान लिया पर नलिनी इनकार ही करती रही। वह अपने छोटे भाई को छोड़ने को तैयार न थी। ताराचंद ने दौड़धूप करके विपिन का सम्बन्ध अपनी एक बहिन से पक्का करा कर उसके उस बहाने को भी निराधार कर दिया। लाचार नलिनी को उसका प्रस्ताव मान लेना पड़ा।

कुछ दिन के भीतर वे दोनों परिणय के सूत्र में बंध गये। शिवचंद ने इस खुशी के कार्यक्रम में भाग नहीं लिया। वे बराबर रूठे रहे। परन्तु

प्रतिमा अपने भाई के ब्याह में आकर सम्मिलित हुई, और सबसे मजे की बात इसमें यह रही कि विपिन को इस बार भी प्रतिमा ही मिली। उसकी नववधू का नाम भी प्रतिमा ही निकला।

ताराचंद ने नवदंपति का स्वागत करने के उपलक्ष में जो प्रीतिभोज दिया, उसमें नलिनी ने हँसते हुए कहा—भैया विपिन आज तुम्हारी परीक्षा होगी। तुम्हें घूँघट में बातें करनेवाली वधुओं में से अपनी प्रतिमा को आज खोज निकालना होगा।

विपिन ने मुस्कराकर उत्तर दिया—और यदि भूल कर बैठा तो क्या होगा दीदी?

'तो भी तुम्हें कोई पाप न होगा।' कहकर ताराचंद हँस पड़े। उनकी हँसी से वातावरण गूँज उठा और देर तक गूँजता रहा।

नववधू

वसन्त-पञ्चमी की लग्न थी, पर श्यामा ने द्वितीया से ही एकान्त वास कर लिया। उसे खाना-पीना, हँसना-बोलना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वह दिन-रात सबसे भीतरवाली अँधेरी कोठरी में कभी बिस्तर पर कभी पृथ्वी पर ही बैठी हुई न जाने कितनी बातें सोचती रहती थी। उसकी सहेलियाँ जब तब आ-आकर उसे चिढ़ाती और समझाती थीं। वह चुप-चाप उनकी बातें सुन लेती थी।

श्यामा अपनी ससुराल का चित्र पहले भी अनेक बार कल्पना के आधार पर खींच चुकी थी। अपनी सहेलियों के मुँह से सुन-सुनाकर कई बार ऐसी भावनाएँ उसके हृदय में उठी थीं, लेकिन वे भावनाएँ और वे कल्पनाएँ तरङ्गिणी की लहरों की तरह या संध्या के लाल-पीले हरे बादलों की तरह पल भर में अन्तर्हित हो जाती थीं, उनमें श्यामा का कौतूहल ही अधिक रहता था। उसने कभी भी निश्चयपूर्वक यह नहीं समझा था कि वह दिन सचमुच ही आ जायगा, जब उसे अपने भाई-बहनों को प्यारी माता को, पिता को, चाचा-चाची को और पास-पड़ोस के सब बड़े-छोटों को छोड़कर दूर एक अपरिचित परिवार में अनायास जाना ही पड़ेगा।

आज तीन चार दिन से उसका यह विचार परिवर्तित हो गया था। उसके हृदय में, मन में, यह बात भली-भांति बैठ गई थी, कि वह अब बची, तब बची। बचने के अतिरिक्त उसे दूसरा विचार भी न आता था। वह चार दिन बाद और भी आयगी, यह उसके अधीर हृदय में किसी तरह समाता ही न था। उस अँधेरी कोठरी के एकान्त कोने में बैठकर श्यामा ने अपने अतीत जीवन को कई बार स्मरण किया।

दो दिन बाद उसका संसार बदल जायगा। ये छोटे-छोटे भाई कहाँ मिलेंगे? स्वतन्त्रता का जीवन अब उसे छोड़ जा रहा है। रात दिन घूँघट के भीतर, परदे की आड़ में, रहना पड़ेगा। जब उसे दीदी की जगह भाभी कह-कह कर देवर पुकारेंगे, तब वह किस तरह जवाब देगी? स्वभाव के अनुसार कहीं ज़ोर से कोई बात मुँह से निकल गई तो उसकी हँसी होगी। वह खाना बहुत अच्छा बनाती है। उसके ससुर जब उसकी प्रशंसा करने लगेंगे तब वह मारे लाज के पृथ्वी में न गड़ जायगी? वह बड़ी लज्जाशीला है, पति से बात करने का साहस तो उसे जन्म भर न हो सकेगा।

ऐसे सिसकते श्यामा के वे दिन पहाड़ होकर कटे। घर-परिवार छूटने का मानसिक क्लेश इतना व्यापक और विस्तृत होकर आ गया कि हर समय विकसित कली की तरह प्रफुल्लित रहनेवाली श्यामा मोह ममत्व की प्रतिमा हो गई। मालूम पड़ता था कुल-वधूत्व के, आदर्श-गृहिणी के एवं स्नेहशीला माता की भावनाओं के संस्कार की छाया उसी क्षण से उसके हृदय पर एक साथ पड़ने लगी। आपसे आप उसका हृदय अपने सभी आत्मीयों को हृदय से लगा लेने के लिए व्याकुल हो पड़ा। पड़ोस की कई

लड़कियों से श्यामा की नहीं पटती थी। उससे दो-एक से लड़ाई भी हो चुकी थी। बोलना तक बन्द था। श्यामा ने स्वभाव के अनुसार कभी उनसे बात करने का विचार तक न किया था। इस वह अपना अपमान समझती थी। आज वे सभी बातें, सारे मनोविकार, स्मशान भूमि से कायर की भांति अदृश्य हो गये थे। उसका हृदय आज अपने स्वाभाविक रूप को छोड़कर बाहर निकला पड़ता था। आज वह उन सबको किसी प्रकार यह बतला देना चाहती थी कि वह वास्तव में उन्हें कितना प्यार करती है। मुंह से न बोलकर भी, उन्हें छोड़ते हुए उसे कितनी वेदना, कितना कलेश और कितना सन्ताप है। कम से कम जहाँ वह जन्मी और इतनी बड़ी हुई वहाँ तो उस अपमानजनक सम्बन्ध का स्मरण कराने वाला कोई न हो। वह जा रही है, विवश होकर जा रही है। सांसारिक और सामाजिक प्रथा के अनुसार जा रही है। किन्तु वह सबकी मंगल-कामना करती है और सदा करती रहेगी।

अनुरञ्जित अतीत स्मृति के साथ साथ ही अब वह भविष्य का भी मनोरम भाव-व्यंजक चित्र-पट नहीं तैयार कर रही थी; उसके एक ओर के दृश्य तमसाच्छन्न वेदना विहित और दुःख में अपरस थे लेकिन दूसरी ओर ममता और अभिलाषा की रङ्ग शाला में नई-नई भावनाएँ अपना अभिनय प्रारम्भ करने जा रही थीं। वह अपने सुकुमार भावों के स्वर्गीय प्रभाव में मकराकी बनकर प्रवेश करना चाहती थी। कैसी सुन्दर चाह थी, कैसी मनाव मर्यादा और आकुल उत्कंठा।

उसे ससुराल जाने की इच्छा थी, और साथ से मातृ-वियोग होने का

चाव। ननद और देवर के अलौकिक व्यवहार को भी वह अमूल्य और अहोभाग्य की सम्पत्ति समझती थी।

संकल्प विकल्प की इस स्थिति में श्यामा की विचित्र दशा कर दी थी। विचारों के इसी तुमुल संघर्ष में, कल्पनाओं के इसी कोलाहल में, बरात आ गई। बाजों और आतिशबाजी के धूम-धड़ाके से श्यामा का हृदय धड़कने लगा माथे पर मोतियों के दानों की तरह पसीने की बूँदें झलमलाने लगीं। उसके विचारों का तार टूट गया कल्पनाओं की माला बिखर गई। हृदय में रह गई केवल एक उत्सुकता—बरात के लिए नहीं किन्तु अपने जीवन-साथी की एक झलक पाने के लिए। सुकुमार और सुरभित सुख स्वप्नों को आँखों में छिपाये हुए उसे बाहर निकलना पड़ा। सहेलियों के साथ जब वह द्वार की ओर चली तब उसके मुख पर अभूतपूर्व लज्जा-संकोच और उत्सुकता की मिश्रित छाया थी और आँखों में था उत्सुक कौतूहल।

पाणिग्रहण के समय उसका हाथ काँप रहा था। शरीर भीना पसीना हो रहा था और माता पिता के आँसुओं के साथ हृदय उमड़कर मंडप के नीचे आया पड़ता था। लेकिन बहुत अच्छी तरह सब काम हो गये। भाँवरें पड़ गईं, पाणिग्रहण हो गया, श्यामा कन्धों का बोझ हलका करके फिर अपनी अन्धकारमयी गुफा में चली गई।

श्यामा पहले सुना करती थी कि अमुक वधू अपने पति को जी-जान से चाहती है, उसका प्रेम इतना अगाध है कि वह थोड़ी देर के वियोग से ही आतुर हो उठती है। वह सुनाकर कहती थी—

'हां, हो सकता है या होगा।' इससे आगे न उसने कभी सोचा था, और न समझती थी कि उसका कोई उपयोग हो सकता है। अभी अभी अपने विवाह में ही भाँवरों से पहले तक उसे इस तरह के किसी भाव की अनुभूति नहीं थी। उसे यह कौतूहल अवश्य था कि वह अपने पति को देखे। पति सुरूप अथवा कुरूप कैसा है। सुरूप होगा, तो वह क्या करेगी और कुरूप होगा तो क्या होगा, यह तक उसने निश्चय नहीं कर पाया था। केवल देखने भर की छटपटाहट थी। इसीलिए सबसे पहला काम अवगुण्ठन के भीतर से नेत्रों ने अपने-आप समझबूझकर पूरा कर लिया, किन्तु उस एक झलक में ही अलौकिक बात हुई। अपरिचित अनजान युवक का मौर के बोझ से अवनत मुख श्यामा को जैसे नित्यप्रति का देखा हुआ सा लगा। वह अनुपम नहीं था। उसमें बिल्कुल साधारण सरल सुन्दरता थी। श्यामा ने उसे पहली ही बार देखा, जल्दी में देखा, पर न जाने क्यों आकर्षक मालूम हुआ! क्षणभर में ऐसा समझ पड़ा जैसे बरसों का स्नेह रहा हो। देखते ही देखते श्यामा पर जादू हो गया। उसका संस्कार-जात प्रेम जागकर उसकी नस-नस में चक्कर काटने लगा। उसने ठहर कर एक बार सोचा—क्या इसी तरह अपने पतियों के लिए अज्ञात रूप से अनायास सबका प्रेम-मद उमड़ पड़ता है!

विदा के समय सचमुच एक बार फिर विकल बनी आई। वह रोना चाहती थी, पर आंसू नहीं गिरता था। कण्ठ से बोल नहीं फूटता था। उस समय उसके सजल नेत्रों में माता का स्नेह, मलिन मुख पर पिता का प्यार और विवर्ण शिष्टाचार में गुरु जन का सम्मान दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित

थे। साथ ही हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में, लालसा के सुनहले आवरण से आच्छादित, उत्साहमयी कुसुमभरी अलसित भाव से कामना कर रही थी।

इस प्रकार श्यामा, अश्रु उन्मनी श्यामा, पालकी में चढ़कर चली गई। अपने मां बाप के घर को छोड़ गई। उस घर को छोड़ गई जिसमें उसने बचपन बिताया था। उस घर को छोड़ गई जिसमें उसने परिवार का सुख पाया था। आज उसके लिए किसी नये घर का बुलावा आया था। उस अनजाने घर के लिए न जाने कहां से अनायास उसके हृदय में ममत्व का सागर उमड़ आया। और उसे ऐसा लगा कि वह अपने असली घर को जा रही है। वह उस घर में जा रही है जो जन्म जन्मान्तर से उसका अपना है। यही वह घर है जिसकी उसे चाह थी पर वह समझ नहीं पा रही थी। यही वह घर है जिसमें आज प्रवेश करने के बाद वह उसी दिन निकलेगी जब और कहीं न जाकर सीधी चिता पर जायगी।

नववधू श्यामा ने पुराना सब कुछ छोड़ दिया। नये परिवार से उसका नाता जुड़ा, नये घर में प्रवेश हुआ, नये जीवन से परिचय हुआ। एक दम सब नया-नया, एक दम सब नया-नया। नववधू की नई रंगीन दुनियां, ननद देवरों के हास्य विनोद से भरी नवेली दुनियां।

'हाँ, हो सकता है या होगा।' इससे आगे न उसने कभी सोचा था, और न समझती थी कि उसका कोई उपयोग हो सकता है। अभी अभी अपने विवाह में ही भाँवरों से पहले तक उसे इस तरह के किसी भाव की अनुभूति नहीं थी। उसे यह कौतूहल अवश्य था कि वह अपने पति को देखे। पति सुरूप अथवा कुरूप कैसा है ? सुरूप होगा, तो वह क्या करेगी और कुरूप होगा तो क्या होगा, यह तक उसने निश्चय नहीं कर पाया था। केवल देखने भर की उत्कण्ठा थी। इसीलिए सबसे पहला काम अवगुण्ठन के भीतर से नेत्रों ने अपने आप समझबूझकर पूरा कर लिया, किन्तु उस एक मुहूर्त में ही अलौकिक बात हुई। अपरिचित अनजान युवक का मौर के बोझ से अवनत मुख श्यामा को जैसे निम्नप्रति का देखा हुआ सा लगा। वह अनुपम नहीं था। उसमें बिलकुल साधारण सरल सुन्दरता थी। श्यामा ने उसे पहली ही बार देखा, अभी में देखा, पर न जाने क्यों आकर्षक मालूम हुआ ! क्षणभर में ऐसा समझ पड़ा जैसे बरसों का स्नेह रहा हो। देखते ही देखते श्यामा पर जादू हो गया। उसका संस्कार-जात प्रेम जागकर उसकी नस-नस में चक्कर काटने लगा। उसने ठहर कर एक बार सोचा—क्या इसी तरह अपने पतियों के लिए अज्ञात रूप से अनायास सबका प्रेम-मद उमड़ पड़ता है ?

विदा के समय सचमुच एक बार फिर विपद पड़ी आई। वह रोना चाहती थी, पर आँसू नहीं गिरता था। कण्ठ से शब्द नहीं फूटता था। उस समय उसके सजल नेत्रों में माता का स्नेह मलिन मुख पर पिता का प्यार और विनम्र शिष्टाचार में गुरु-जन का सम्मान दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित

थे। साथ ही हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में, लालसा के सुनहले आवरण से आच्छादित, उल्लासमयी कुतूहली अलक्षित भाव से जगमग कर रही थी।

इस प्रकार श्यामा, अश्रु ढलकाती श्यामा, पालकी में चढ़कर चली गई। अपने माँ बाप के घर को छोड़ गई। उस घर को छोड़ गई जिसमें उसने बचपन बिताया था। उस घर को छोड़ गई जिसमें उसने परिवार का सुख पाया था। आज उसके लिए किसी नये घर का बुलावा आया था। उस अनजाने घर के लिए न जाने कहाँ से अनायास उसके हृदय में ममत्व का सागर उमड़ आया। और उसे ऐसा लगा कि वह अपने असली घर को जा रही है। वह उस घर में जा रही है जो जन्म जन्मान्तर से उसका अपना है। यही वह घर है जिसकी उसे चाह थी पर वह समझ नहीं पा रही थी। यही वह घर है जिसमें आज प्रवेश करने के बाद वह उसी दिन निकलेगी जब और कहीं न जाकर सीधी चिता पर जायगी।

नववधू श्यामा ने पुराना सब कुछ छोड़ दिया। नये परिवार से उसका नाता जुड़ा, नये घर में प्रवेश हुआ, नये जीवन से परिचय हुआ। एक दम सब नया-नया, एक दम सब नया-नया। नववधू को नई रंगीन दुनियां, ननद देवरों के हास्य विनोद से भरी नवेली दुनिया।

'हाँ, हो सकता है या होगा।' इससे आगे न उसने कभी सोचा था, और न समझती थी कि उसका कोई उपयोग हो सकता है। अभी अभी अपने विवाह में ही भाँवरों से पहले तक उसे इस तरह के किसी भाव की अनुभूति नहीं थी। उसे यह कौतूहल अवश्य था कि वह अपने पति को देखे। पति सुरूप अथवा कुरूप कैसा है। सुरूप होगा, तो वह क्या करेगी और कुरूप होगा तो क्या होगा, यह तक उसने निश्चय नहीं कर पाया था। केवल देखने भर की उत्कण्ठा थी। इसीलिए सबसे पहला काम अवश्य उस के भीतर से नेत्रों ने अपने आप समझबूझकर पूरा कर लिया, किन्तु उस एक झलक में ही अलौकिक बात हुई। अपरिचित अनजान युवक का भीर के बोझ से अवनत मुख श्यामा को कैसे निष्प्रति का देखा हुआ सा लगा। वह अनुपम नहीं था। उसमें बिलकुल साधारण सरल सुन्दरता थी। श्यामा ने उसे पहली ही बार देखा, जल्दी में देखा, पर न जाने क्यों आकर्षक मालूम हुआ! अवसर में ऐसा समझ पड़ा जैसे बरसों का स्नेह रहा हो। देखते ही देखते श्यामा पर जादू हो गया। उसका संस्कार-जात प्रेम जागकर उसकी नस-नस में चक्कर काटने लगा। उसने ठहर कर एक बार सोचा—क्या इसी तरह अपने पतियों के लिए अज्ञात रूप से अनायास सबका प्रेम-मद उमड़ पड़ता है!

विदा के समय सचमुच एक बार फिर विषाद चढ़ी आई। वह रोना चाहती थी, पर आँसू नहीं गिरता था। कण्ठ से बोल नहीं फूटता था। उस समय उसके सजल नेत्रों में माता का स्नेह मलिन मुख पर पिता का प्यार और विकल शिष्टाचार में गुरु-जन का सम्मान दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित

थे। साथ ही हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में, लालसा के सुनहले आवरण से आच्छादित, उल्लासमयी पुलकभरी प्रच्छन्न भाव से जगमग कर रही थी।

इस प्रकार श्यामा, अपूर्व रूपवती श्यामा, पालकी में चढ़कर चली गई। अपने माँ बाप के घर को छोड़ गई। उस घर को छोड़ गई जिसमें उसने बचपन बिताया था। उस घर को छोड़ गई जिसमें उसने परिवार का सुख पाया था। आज उसके लिए किसी नये घर का बुलावा आया था। उस अनजाने घर के लिए न जाने कहाँ से अनायास उसके हृदय में ममत्व का सागर उमड़ आया। और उसे ऐसा लगा कि वह अपने असली घर को जा रही है। वह उस घर में जा रही है जो जन्म जन्मान्तर से उसका अपना है। यही वह घर है जिसकी उसे चाह थी पर वह समझ नहीं पा रही थी। यही वह घर है जिसमें आज प्रवेश करने के बाद वह उसी दिन निकलेगी जब और कहीं न जाकर सीधी चिता पर जायगी।

नववधू श्यामा ने पुराना सब कुछ छोड़ दिया। नये परिवार से उसका नाता जुड़ा, नये घर में प्रवेश हुआ, नये जीवन से परिचय हुआ। एक दम सब नया-नया, एक दम सब नया-नया। नववधू की नई रंगीन दुनियाँ, ननद देवरों के हास्य विनोद से भरी नवेली दुनियाँ।

बहिष्कार

उमाशंकर खासा पहलवान था, लेकिन उसकी सारी पहलवानी, सारी शक्ति, सारी जवाँमर्दी और सारी बहादुरी खत्म होती थी घर के भीतर— उसकी सुशीला स्वरूपा पत्नी कुन्ती के मांसल स्तनों और उसके मुलायम पतले हाथों पर। विवाह हुए छः सात वर्ष हो चुके थे लेकिन वह यह न समझ पायी थी कि किस समय क्या करने से स्वामी के निकट उसकी कद्र होगी। इस बीच जितने दिन गुजरे होंगे उससे दुगने बार स्वामी के हाथों प्रहार का स्वाद उसे अवश्य मिला होगा। इसलिए उसकी सहनशीलता की मात्रा बढ़ गई थी। ससुराल का यही एक सुख है ऐसा उसने मान रक्खा था।

एक दिन भोर होते ही किसी विशेष कारण के उमाशंकर ने बिगड़ कर कुन्ती की पीठ पर दो चाबुक जमा दिये और उसी आवेश में चुप घर से बाहर निकल गया। नित्य की तरह कुछ देर रो-धोकर वह उठ बैठी। मकान की सफाई की, स्नान किया, भोजन बनाया और उसे लेकर चौके में बैठी-बैठी थक गई लेकिन उमाशंकर वापस न आया।

इतनी देर तो वह कभी बाहर न ठहरते थे—यह सोचकर कुन्ती एक बार अपने कठोर स्वामी के लिये कोमल-भाव से व्याकुल चिन्तित हो उठी।

वे मारपीट कर बाहर चले गये थे, और वह बड़ी देर तक अन्दर रोती रही थी। कहीं उसका रोना सुनकर किसी पड़ोसी ने उन्हें कुछ कह तो नहीं दिया ! न जाने इन लोगों को क्या पड़ी रहती है, जो मर्द और औरत की घरेलू बातों में दखल दे बैठते हैं। उनकी आदत है वे मारते हैं, मैं पिटती हूँ—यही सोचती हुई कुन्ती दरवाजे के पास खड़ी हुई पति की प्रतीक्षा कर रही थी।

सुबह से निकलकर शाम कर दी और अभी तक वापस नहीं आये। किस कारण इस लम्बी प्रतीक्षा ने कुन्ती को करीब करीब रुला दिया। सवेरे का भोजन वैसा ही पड़ा हुआ था। भूखी प्यासी कुन्ती स्वामी की प्रतीक्षा में रिस रही थी। एका-एक दरवाजा ठेलकर वे ही कमरे के अन्दर आने लगे तो पीछे खड़ी कुन्ती धक्का खाकर गिरते-गिरते बची।

दिन भर गायब रहकर उसे भूखों मार डाला, फिर भी उसे धिक्कारा कर दिया—इस तरह की जो वाजिब शिकायतें सोचकर वह खड़ी थी, वे सब उसी के पास रह गईं। उनके भैरव कड़ी फटकार उसके ऊपर पड़ी—"बेहूदी ! दरवाजे के पास खड़ी होकर किसे झाँकती है ?"

कुन्ती के मुँह से कोई उत्तर न निकला। वह किसके लिये झाँक रही थी। वह कौन से भाव लेकर किसी की प्रतीक्षा कर रही थी यह सब बतलाकर सफाई देते समय उसकी जबान रुक गई। जिसे किसी ने मर्दों के आगे कभी सिर उठाते नहीं देखा था उस कुन्ती को यह सब अपने स्वामी पर प्रकट करके निर्लज्जता का अभिनय करना गवारा नहीं था।

बस, फिर क्या था ! जो कोड़ा हृष्ट-पुष्ट मरियल घोड़े की पीठ पर चलकर

नहीं टूटा था, वह चार टुकड़ों में अलग जा पड़ा। कुन्ती मार से बेदम होकर पृथ्वी पर लुढ़क गई। बलखाकर गिरने से वह बेहोश हो गई। उसकी छाती धुक-धुक करती रही, लेकिन जयशंकर का हाथ न रुका।

[दो]

पड़ोस की यशोदा को पता था कि जयशंकर सवेरे से ही उपद्रव मचा कर घर से निकल गया है। कुन्ती ने उसे बतलाया था कि किस तरह वह सुबह से भोजन बना कर उसकी प्रतीक्षा में बैठी है। यशोदा कुन्ती की चीख सुनकर दौड़ आई पर उसके पहुँचने तक वह अचेत हो गई थी और जयशंकर उसके शरीर को धुने जा रहा था। यशोदा ने भाग कर हल्ला मचा दिया। पड़ोसी इकट्ठे हो गये, परन्तु उस समय तक जयशंकर अपनी इच्छा पूरी कर चुका था। कुन्ती निर्जीव सी पड़ी थी।

लोग जयशंकर की निन्दा करने लगे। पड़ोसियों की सेवा सुश्रुषा के बाद कुन्ती होश में आई; फिर भी कई दिन तक उसमें उठने बैठने की सामर्थ्य न थी। जगह जगह शरीर में घाव हो गये थे जो शायद महीनों तक न भरेंगे और उनके निशान आजन्म बने रहेंगे।

जयशंकर की इस अमानुषिक-प्रकृति पर लोगों में असन्तोष फैला। तमाम गाँव ने मिलकर पंचायत की। उन्होंने उसे उपयुक्त दण्ड देना विचारा, लेकिन यह भी किसी से छिपा नहीं था कि जयशंकर के लिये किसी कठोर दण्ड का विधान करने से उस सजा का सारा भार कुन्ती पर पड़ेगा। सोच-विचारकर उन्होंने उसका सामाजिक बहिष्कार करना तय किया।

[तीन]

धन, कुल, मान मर्यादा, प्रतिष्ठा जिनका सदा से जगन्धर को गर्व था। समय कुसमय जिनका सहारा लेकर उसने न जाने कितने असंभव संभव कर डाले थे—इस बार उसके सारे अस्त्र कुण्ठित सिद्ध हुए।

घर के नौकर, छोड़कर बैठ रहे। खेत में काम करनेवाले नहीं आये। मेहतर, धोबी, चमार सभी ने अपना अपना काम बन्द कर दिया। वह कहीं जाता तो कोई बात नहीं करता। उसे ऐसा मालूम पड़ा जैसे वह एक भयंकर परिस्थिति में पड़ गया है। उसका रहना असम्भव हो गया। जिन लोगों को वह कूड़ा-कचरा और हीन-अपदार्थ समझता था, उनका महत्व अब समझ में आया। कुन्ती को छोड़कर शेष सभी अपने से विराने होगये। वह केवल गृहिणी ही न रह कर, नौकर चाकर, धोबी-कहार सभी कुछ बन गई। अपनी शक्ति भर उसने स्वामी को कष्ट नहीं होने दिया।

जगन्धर फिर भी न बदला। उसका बर्ताव वैसा ही रहा बल्कि उससे भी अधिक बुरी तरह वह उसकी खबर लेता। वह जानता था कि उसके ऊपर समाज के कोप का कारण तो कुन्ती ही है।

[चार]

घर में खाने पीने का सामान चुक गया। अब कुन्ती क्या करे। वह भी निरुपाय हो चली। दुकानदार जगन्धर के हाथ सौदा नहीं बेचते थे। ऐसी दुर्दशा की कल्पना उसने न की थी। मित्रों से मिलने को, लोगों से बातचीत करने को, बालकों से हँसने-बोलने को उसका जी मचल-मचल कर रह

जाता था पर सब उसे देखकर ऐसे भागते थे जैसे कि वह भूत हो। वह अपने ही गाँव में एक अपरिचित की तरह रहते हुए व्याकुल हो उठा। कपड़े मैले हो गये, साबुन नहीं था। दो दिन तक कुछ मिला नहीं। भूखा प्यासा वह और अधिक सहन न कर सका। चुपके से रात को वह घर से निकल भागा। गाँव भर का कोप उसे सहन न हुआ।

जिस बात को कुन्ती डरती थी वही हो गई। वह अपने निष्ठुर स्वामी के लिए आँखों के आँसू न रोक सकी। रो-रोकर लोगों की आलोचना करने लगी।

रामरूप गाँव छोड़ गया लोगों को सुनकर प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने अमोघ हथियार को वापस ले लिया। जवाशंकर के घर को पहले जैसी सुविधाएं मिलने लगीं इसका प्रबंध कर दिया, पर सवाल यह खड़ा हुआ कि सुविधाएं भोगे कौन? कुन्ती जवाशंकर के बिना अन्नजल छोड़ बैठी थी। वह न खाती-पीती, न किसी से बोलती। लोग समझा समझा कर हार गये पर वे उसे अपने निश्चय से विरत न कर पाये।

जसोदा ने आकर समझाया—कुन्ती भाभी तुम किसके लिए खान-पान छोड़े बैठी हो? आदमी ही ऐसा वह तो इतने वर्ष तक तुम्हारी अनन्य सेवा को न समझ पाता? तुमने उसके लिए क्या नहीं किया और उसने तुम्हें क्या बदला दिया? फिर भी तुम उसके लिए व्याकुल हो। मार मार कर तुम्हारी कुन्दन सी काया को हड्डियों का ढाँचा बना गया, ऐसे आदमी को अपना कौन कहेगा? एक तुम्हीं हो जो उस का नाम बाँध पर रचाये बैठी हो।

कुन्ती ने शान्त भाव से उसे उत्तर दिया—इस विषय में तुम मुझे न समझाओ बहन। मैं मूढ़ हूं। मैं समझ न सकूंगी।

वह अपने निश्चय पर पत्थर की तरह दृढ़ बनी रही।

[पांच]

ज्ञानशंकर को बहिष्कार के दिन तक इतने नीरस न लगे थे, जितने इस समय दिल्ली जैसे बड़े नगर में लाखों आदमियों की भीड़ में प्रतीत होते हैं। वह अच्छी तरह अनुभव करने लगा कि घर नौकरों के असहयोग में और मित्रों के रूठ जाने में एक तरह का रस था, जिसका यहाँ सर्वथा अभाव है। यहाँ के मौखिक शिष्टाचार में एक हृदयहीन आत्मा छिपी हुई है, जो नीरस है, शुष्क है और है स्वार्थ संश्लिष्ट किन्तु गांव के लोगों के संबंध विच्छेद में एक सौहार्द था, उनके कोप में एक हितकामना थी। यहाँ अपरिचित जगह में लोगों के प्रति कोई ममत्व की भाव नहीं करता। स्वार्थ की दुनियां में सब अपने अपने हित की बात सोचते हैं।

इन सब बातों को विचारकर ज्ञानशंकर का हृदय पश्चात्ताप से द्रवित हो गया। जो आंखें सदा क्रोध की ज्वाला से जलना जानती थीं, वे आज जल बिन्दुओं के शीतल स्पर्श से मीलकर शान्त हो गईं। जो हृदय निष्फल आवेश से धड़का करता था वह मधुर पीड़ा से आर्द्र हो उठा। उसने इस निर्वासन में अपने जीवन के ध्येय की खोज लिया। उसी दिन उसने घर जाने के लिए अपने सारे नवीन बन्धन निर्ममता से तोड़ फेंके। वह पिंजर-मुक्त पक्षी की तरह स्वच्छन्द अबाध गति से लौट चला।

वह घर पहुँचा पर कुन्ती रोग से दुर्बल होकर चारपाई पर पड़ी थी। उसकी जीवनगाथा का अन्तिम अध्याय बहुत जल्दी समाप्त होने वाला था, फिर भी जयाकर को लौटा देखकर एक अपूर्व आभा से उसका मुख खिल उठा। जीवन की पुण्यतम साधना के पवित्र अश्रुकण दोनों नेत्रों से निःसृत होकर अन्तिम मेघ की तरह जयाकर के पैरों पर गिर पड़े।

वह स्तब्ध-निश्चल भाव से चुपचाप खड़ा रहा। जैसे यौवन की अज्ञात सभी बातें एकाएक उसके समीप स्पष्ट हो उठी हों। उसने कुन्ती का हाथ, बड़े प्यार से, अपने हाथ में ले लिया।

कुन्ती की छल-छलाई आँखों में एक स्थिर ज्योति अपूर्व भाव से झाँककर बैठ गई। उसका निष्पाप-निस्पन्द शीतल हाथ लिये जयाकर अवाक्-सा बैठा रह गया।

अछूत

मोहन चमार की विधवा ने टूटी झोंपड़ी से निकलकर बालक को गोद में भर लिया और उसका मुँह चूम-कर कहा—"बेटा! तू निरा पगला है। भला वे रोटी के टुकड़े लेकर कहां जायगा!"

बालक—"नहीं अम्मा! मैं तो लेआऊंगा।"

माता—"जिद अच्छी नहीं होती। जिन्हें सुन्दर से सुन्दर भोजन का भोग लगाया जाता है, उन्हें यह सूखी रोटी!···चलो, ऐसी बातें नहीं करते। तुम तो बड़े राजा-बेटा हो।"

बालक सिर हिलाकर कहने लगा—"रोटी से भी अच्छा भाग लगाते हैं! मेरी रूखी न खायेंगे! वाह, मैं उनके मुँह में ठूस न दूंगा"।

माँ की आंखों में आंसू आगये। वह मन ही मन कहने लगी कि उसने नाहक सिर पर एक बला खड़ी कर ली है। यदि वह स्वयं उसके हृदय में ऐसी भावना न भरती तो आज यह समय क्यों आता! फिर भी उसने बड़े धीरज के साथ कहा—"मान जाओ। वहां तुम्हें कोई जाने भी तो नहीं देगा। बड़े पुजारी महाराज वहां पहरा देते हैं। वे हम लोगों की पूजा के ठाकुर नहीं हैं। अपने ठाकुर तो अपने घर में ही हैं। उन्हें क्यों

नहीं मिला बेटा। वे गरीब भी हैं और उतने ऊँचे भी नहीं हैं। मन्दिर के ठाकुर अमीर-कुलीन हैं। हम अछूत गरीबों को उनके दर्शन का अधिकार नहीं है।"

बालक ने मचलकर कहा—"नहीं मैं तो जाऊँगा। मुझे वहाँ कोई नहीं रोकेगा। मैं ज़ोर से चिल्ला दूँगा तुम्हीं कहती थीं कि वे बड़े दयावान हैं। क्या तब भी अपने पास न बुला लेंगे?"

माँ ने उमड़ते हुए हृदय को थामकर कहा—"अच्छा भले आदमी, मैं तुम्हें रोकती नहीं। लेकिन इस दोपहरी में मन्दिर का द्वार बन्द होगा। अभी ठाकुर जी के आराम में विघ्न पड़ेगा। नहीं मानता है तो थोड़ी देर बाद साँझ को जाना।"

माँ की यह बात बालक ने सहज ही मान ली। माता ने भी सन्तोष की साँस ली। उसने समझा कि खेल-कूद में सब भूल जायगा, पर बालक की धुन पक्की थी। उसने ले जाकर उसी पटीए के नीचे छिपायी। माँ अपने काम में लग गई।

गोधूली के धुँधले प्रकाश में उस ने फिर एक बार धीरे से कहा—"अब तो आरती का समय हो गया।"

उसके कोमल और सरल स्वर को और चाहे किसी ने न सुना हो, पर वे घरी के टूटके और कूड़ा कटौरा बड़ी उत्सुकता से सुन रहे थे। झनझनाते हुए मन्दिर के घण्टों में मानो उसी की गुहराई हुई बात प्रतिध्वनित हो उठी। बालक ने शीघ्रता से उन्हें उठा लिया और मन्दिर की ओर दौड़ गया।

मन्दिर की चकाचौंध पहली ही बार उसने देखी थी। वह बड़ी देर तक चकित और भवकाया हुआ सा चारों ओर ताकता रहा। वहाँ की तड़क-भड़क और गाजे बाजे का उसके हृदय पर गहरा असर पड़ा। उसके मनमें आया कि सचमुच ही माँ की बात न मानकर उसने भूल की। उसने अपनी रोटी का दाना हाथों से कसकर कुरते में छिपा लिया। यहाँ आ गया था, इसलिए भाग भी नहीं सका। हिंडोले पर झूलती हुई उसने जब ठाकुर जी की मूर्ति देखी, तब श्रद्धा और लाज से माथा झुका लिया। उसी समय उसके सामने किसी ने आरती बढ़ा दी। वह भय से पीछे हटा पर उसके हाथ बढ़कर आरती छूने लगे और रोटी छूटकर ठाकुर जी के चरणों के पास आ पड़ी।

पुजारी ने हल्ला किया, और लोगों ने 'शूद्र' 'चमार' की तीव्र पुकार के साथ छि छि करके उसे बाहर ढकेल दिया। वह अचेत होकर चबूतरे के नीचे आ गिरा, पर उस ओर किसी ने ध्यान न दिया। सब लोग शूद्र की छाया से अपवित्र हो गये भगवान को गंगा जल से आचमन करा रहे थे। गाय के गोबर से शूद्र चरणों से अपवित्र हुई पृथ्वी लीपी जा रही थी।

[दो]

जब बालक ने चोट से कराहकर आँखें खोलीं, तब अपने आपको रोती हुई माँ की गोद में पाया। उसकी आँखों से आँसुओं की धार बह रही थी।

कुछ दिन हो गये पर बालक का मन इस घटना को याद करके सदा कचोटता रहा। उसे ग्लानि और क्षोभ केवल इतना ही था, कि जिनके बल पर वह मन्दिर में प्रवेश करने का साहस कर सका था, उन्हीं की उपस्थिति में, वह बुरी तरह दुरदुराया गया। वे देखते रहे, और कुछ भी न कहा। सारा अत्याचार उन्हीं के सामने हुआ, पर वे चुप थे। उनकी निष्ठुरता पर उस दिन उसे और भी क्षोभ हुआ, जब उस सन्ताप और असहाय बनाकर उसकी माता को भी उन्होंने पकड़ बुलाया। वह सिर पटक कर जब माँ को रोकने लगा था तब माँ ने आँखें खोलकर इतना ही कहा था—"मुझे ठाकुर जी बुलाते हैं। उनकी आज्ञा अमान्य नहीं हो सकती। तुम डरो नहीं। वे ही तुम्हारी रक्षा करेंगे। लाओ, एक बार अपना हाथ मुझे छूने दो।"

इसके बाद माँ का प्राणान्त हो गया। अकेला बालक रोता चिल्लाता रहा। उसी समय से ठाकुर जी की कठोरता और स्वार्थपरता से उसका मन खिन्न हो गया। अनेक वर्षों की स्थापित मूर्ति को लेकर उसने नाले में फेंक दिया। तुलसीचौरे को खुरपी से ढहाकर ढेर कर दिया। उस समय उसके मन में तनिक भी दया ममता का संचार न हुआ।

एक अछूत का अप्रत्याशित साहस पुजारी महाराज के दिल में काँटे की तरह खटकता रहा। उनका कहना था कि वह उपद्रव जान-बूझ कर किया गया है। घोर कलियुग आ गया है। शूद्रों ने शास्त्रों की पवित्रता को नष्ट करने का ठेका ले लिया है, पर उनका विश्वास था कि ऐसी अनाचार की आँधियाँ संसार में कई बार आ चुकी हैं, लेकिन दीपक की ज्योति पर

पतंगों की भांति आततायियों का अन्त ही अवश्यम्भावी है। उनकी दुराकांक्षाओं का दमन स्वयं भगवान को अभीष्ट है। उन्हें तो स्वप्न में कई बार भगवान की ओर से यह पवित्र आदेश मिल भी चुका था कि शत्रु को कभी पनपने न दो। अपने भक्तों के हाथ से उनके प्रयास को नष्ट होते देखकर वे प्रसन्न होंगे।

पुजारी जी के इन भाषा ने भक्तों के उदार हृदय में हलचल मचा दिया। क्षुद्र रस्सी की तरह भयंकर सांप बन कर रेंगने लगा। एक छोटे से बालक की सरल और बालकोचित भावना ने विग्रह और मनोमालिन्य का विराट रूप धारण कर लिया। नीचों की इस हरकत से धनी-मानी कुलीन जमींदार और महाजनों को भी बुरा मालूम पड़ा। और कुछ हो जाता, यदि उसी समय लाड़ली के अचानक बीमार हो जाने से पुजारी जी को बाहर इलाज के लिए न जाना पड़ता। इधर पुजारी जी चले गये, और उन्हीं के साथ विद्वेष का प्रज्वलित भाव भी थम गया। इसी बीच अपने दुलारे बच्चे सुखुआ को अनाथ छोड़कर, लाछन की विधवा उस धाम को चली गई, जहां ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है।

मां के बाद किसी ने उस बालक की परवाह नहीं की। वह बेचारा दर-दर मारा फिरा। आखिर उसे अपने पैतृक धर्म से काफी कष्ट हो जाने पर ईसाईमत की दीक्षा लेनी पड़ी। ऐसा करते समय उसे कुछ बुरा नहीं मालूम पड़ा। न तो उसकी उम्र ही अधिक थी और न अपने धर्म के प्रति श्रद्धा के ही कोई विशेष कारण थे।

पुजारी जी जब प्रवास से लौटे, तब आनन्द से फूलकर उन्हें पर

कुछ दिन हो जाने पर बालक का मन इस घटना को याद करके सदा कचोटता रहा। उसे ग्लानि और शोक केवल इतना ही था, कि जिनके बल पर वह मन्दिर में प्रवेश करने का साहस कर सका था, उन्हीं की उपस्थिति में, वह बुरी तरह दुरदुराया गया। वे देखते रहे, और कुछ भी न कहा। सारा अत्याचार उन्हीं के सामने हुआ, पर वे चुप थे। उनकी निष्ठुरता पर उस दिन उसे और भी क्षोभ हुआ, जब उसे अनाथ और असहाय बनाकर उसकी माता को भी उन्होंने पकड़ बुलाया। वह सिर पटक कर जब माँ को रोकने लगा था, तब माँ ने आँखें खोलकर इतना ही कहा था—"मुझे ठाकुर जी बुलाते हैं। उनकी आज्ञा अमान्य नहीं हो सकती। तुम डरो नहीं। वे ही तुम्हारी रक्षा करेंगे। लाओ, एक बार अपना हाथ मुझे चूमने दो।"

इसके बाद माँ का प्राणान्त हो गया। अकेला बालक रोता चिल्लाता रहा। उसी समय से ठाकुर जी की कठोरता और स्वार्थपरता से उसका मन खिन्न हो गया। अनेक वर्षों की स्थापित मूर्ति को लेकर उसने नाले में फेंक दिया। तुलसीचौरे को खुरपी से खोदकर ढेर कर दिया। उस समय उसके मन में तनिक भी दया मया का संचार न हुआ।

एक अछूत का अप्रत्याशित साहस पुजारी महाराज के दिल में कांटे की तरह खटकता रहा। उनका कहना था कि यह उपद्रव जान-बूझ कर किया गया है। घोर कलियुग आ गया है। शूद्रों ने शास्त्रों की पवित्रता को नष्ट करने का ठेका ले लिया है, पर उनका विश्वास था कि ऐसी अनाचार की आंधियां संसार में कई बार आ चुकी हैं, लेकिन दीपक की ज्योति पर

पतंगों की भांति आततायियों का अस्त ही अवश्यम्भावी है। उनकी दुराकांक्षाओं का दमन स्वयं भगवान को अभीष्ट है। उन्हें तो स्वप्न में कई बार भगवान की ओर से यह पवित्र आदेश मिल भी चुका था कि शत्रु को कभी पनपने न दो। अपने भक्त के हाथ से उनके प्रयास को नष्ट होते देखकर वे प्रसन्न होंगे।

पुजारी जी के इस भाषण ने भक्तों के उदार हृदय में तहलका मचा दिया। क्षुद्र रस्सी की जगह भयंकर साँप बन कर रेंगने लगा। एक झोंके से बालक की सरल और बालकोचित भावना ने विग्रह और मनोमालिन्य का विस्तृत रूप धारण कर लिया। लोगों को इस हरकत से धनी-मानी कुलीन जमींदार और महात्मा का भी बुरा मालूम पड़ा। और कुछ हो जाता, यदि उसी समय लड़की के अचानक बीमार हो जाने से पुजारी जी को बाहर इलाज के लिए न जाना पड़ता। इधर पुजारी जी चले गये, और उन्हीं के साथ विद्वेष का प्रज्वलित भाव भी थम गया। इसी बीच अपने दुलारे बच्चे बुधुआ को अनाथ छोड़कर, लालन की विधवा उस धाम को चली गई, जहाँ ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है।

माँ के बाद किसी ने उस बालक की परवाह नहीं की। वह बेचारा दर-दर मारा फिरा। आखिर उसे अपने देशज धर्म से [illegible] हो जाने पर ईसाईमत की दीक्षा लेनी पड़ी। ऐसा करते समय उसे कुछ बुरा नहीं मालूम पड़ा। न तो उसकी उम्र ही अधिक थी और न अपने धर्म के प्रति श्रद्धा के ही कोई विशेष कारण थे।

पुजारी जी जब प्रवास से लौटे, तब आनन्द से फूलकर उन्हें या

बहुत दिन हो गये पर बालक का मन इस घटना को याद करके सदा कसमसाता रहा। उसे ग्लानि और शोक केवल इतना ही था, कि जिनके बल पर वह मन्दिर में प्रवेश करने का साहस कर सका था, उन्हीं की उपस्थिति में, वह बुरी तरह दुरदुराया गया। वे देखते रहे, और कुछभी न कहा। सारा अत्याचार उन्हीं के सामने हुआ, पर वे चुप थे। उनकी निष्ठुरता पर उस दिन उसे और भी क्षोभ हुआ, जब उसे अनाथ और असहाय बनाकर उसकी माता को भी उन्होंने पकड़ बुलाया। वह सिर थाम कर जब माँ को रोकने लगा था, तब माँ ने आँखें खोलकर इतना ही कहा था—"मुझे ठाकुर जी बुलाते हैं। उनकी आज्ञा अमान्य नहीं हो सकती। तुम डरो नहीं। वे ही तुम्हारी रक्षा करेंगे। लाओ, एक बार अपना हाथ मुझे चूमने दो।"

इसके बाद माँ का प्राणान्त हो गया। अकेला बालक रोता चिल्लाता रहा। उसी समय से ठाकुर जी की कठोरता और स्वार्थपरता से उसका मन खिन्न हो गया। अनेक वर्षों की स्थापित मूर्ति को लेकर उसने नाले में फेंक दिया। तुलसीचौरे को खुरपी से खोदकर ढेर कर दिया। उस समय उसके मन में तनिक भी दया-भय का संचार न हुआ।

एक अछूत का अपमानित साहस पुजारी महाराज के दिल में काँटे की तरह खटकता रहा। उनका कहना था कि यह उपद्रव जान-बूझ कर किया गया है। घोर कलियुग आ गया है। शूद्रों ने शास्त्रों की पवित्रता को नष्ट करने का ठेका ले लिया है, पर उनका विश्वास था कि ऐसी अनाचार की आँधियाँ संसार में कई बार आ चुकी हैं, लेकिन दीपक की ज्योति पर

वही कामों पर हाथ रख लेता था, पर पुजारी जी लापता थे। बहुत तलाश हुई परन्तु उनकी गिरफ्तारी न हो सकी। उस दिन से मन्दिर के द्वार अक्सर बन्द रहने लगे। धीरे धीरे भक्तों की भीड़ भी कम होती गई। सुनसान सा हो गया।

माघ की अंधेरी रात थी। पुजारी जी सिंहासन के नीचे भूमि पर माथा घिसकर क्षमा मांग रहे थे। आंखों में अनुताप के आंसू थे, माथे पर कलंक की कालिमा। जिस मन्दिर पर जन्म भर अधिकार रहा था, वहीं चोरों की तरह सिसकियाँ तक लेने में डरते थे। बहुत मिन्नत और प्रार्थना की, पर स्वीकार नहीं हुई। कैसे होती, अनाचार से ठाकुर जी तंग आ गये थे। एक दो नहीं, दर्जनों सतियों के सतीत्व का अपहरण पुजारी जी ने उन्हीं के सिंहासन की ओट में किया था। उस दिन तो उन्होंने सामने ही, चरणों के पास, अपने पापों की गठरी खोल दी थी। प्याला तो लबालब भरा हुआ ही था। एक बूँद तक डालने की गुंजाइश न थी, पर कुल मला मरके का मुंह। तब आखिरी और मिन्नत, क्षमा और प्रार्थना क्या कर सकती थीं?

ठाकुर जी के मुंह फेर लेने पर भी अभी पुजारी जी उठते न थे। इसी समय द्वार खुला, और बैटरी का प्रकाश चारों ओर फैल गया। पुजारी जी हड़बड़ा कर उठ बैठे। उनके चारों ओर पुलिस के सिपाही थे, और सामने डिप्टी सुपरिंटेंडेन्ट पुलिस स्वयमेव खड़े थे। पुजारी जी ससम्भ्रम हाथ जोड़कर उस युगल जोड़ी के आगे खड़े हो गये। साहब का पुराना नाम कुसुमा था।

कहने में संकोच नहीं हुआ कि ठाकुर जी के अपमान के कारण ही उस शूद्र का घर गिरकर ढेर हो गया। माँ मर गई, बेटा लापता हो गया। जमीन का भी कभी-कभी दुर्भाग्य होता है, अब वहाँ कुत्ते और बिल्लियाँ तक नहीं रहते। उस समय पुजारी महाराज यह बात भूल ही गये कि उसी बीच उनकी लड़की भी तो मर गई थी। घर में अब दूसरा दिया जलाने वाला नहीं रह गया था। लेकिन शायद यह बात याद भी आ जाती, तो भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहाँ कहा जा सकता था कि यह भी भगवान का ही काम है। क्योंकि बात बात में उनके मुँह से निकलता था—'भगवान जो करते हैं अच्छा ही करते हैं।'

[तीन]

इन बातों को बीते ज़माना हो गया। न किसी को मुहुआ की याद थी, न उस घटना की। पुजारी जी की उम्र साठ से दो-एक वर्ष ऊपर निकल चुकी थी तथापि ठाकुर जी की कृपा और तर माल की बदौलत चेहरे पर नौजवानों से बढ़कर रौनक थी। भगवान की रासलीला के अध्याय उपयुक्त समय पे जिस स्फूर्ति से भावमयी दिखलाते थे, वह श्रोताओं में अनुराग और भक्ति की तरंगिनी लहरा देती थी। उनकी चेली-दासी तो उन्हीं में इष्ट-देव का आभास पाकर झूम-झूम जाती थीं।

अचानक विपत्ति टूट पड़ी। पुजारी महाराज पर एक चौदह वर्ष की युवती पर बलात्कार का अभियोग चला। सारी बस्ती में यह खबर बिजली की तरह दौड़ गई। लोगों को विश्वास नहीं होता था। जो सुनता,

वहीं कानों पर हाथ रख लेता था, पर पुजारी जी लापता थे। बहुत तलाश हुई परन्तु उनकी गिरफ्तारी न हो सकी। उस दिन से मन्दिर के द्वार अक्सर बन्द रहने लगे। धीरे धीरे भक्तों की भीड़ भी कम होती गई। सुनसान सा हो गया।

माघ की अंधेरी रात थी। पुजारी जी सिंहासन के नीचे भूमि पर माथा घिसकर क्षमा मांग रहे थे। आंखों में अनुताप के आंसू थे, माथे पर कलंक की कालिमा। जिस मन्दिर पर जन्म भर अधिकार रहा था, वहीं चोरों की तरह सिसकियाँ तक लेने में डरते थे। बहुत मिन्नत और प्रार्थना की, पर स्वीकार नहीं हुई। कैसे होती, अनाचार से ठाकुर जी रूठ आ गये थे। एक दो नहीं, दर्जनों सतियों के सतीत्व का अपहरण पुजारी जी ने उन्हीं के सिंहासन की ओट में किया था। उस दिन तो उन्होंने सामने ही, चरणों के पास, अपने पापों की गठरी खोल दी थी। प्याला तो लबालब भरा हुआ ही था। एक बूँद तक डालने की गुंजाइश न थी, पर फूट गया मटके का मुँह। तब आरती और मिन्नत, क्षमा और प्रार्थना क्या कर सकती थीं?

ठाकुर जी के मुँह फेर लेने पर भी आज पुजारी जी उठते न थे। इसी समय द्वार खुला, और बैटरी का प्रकाश चारों ओर फैल गया। पुजारी जी हड़बड़ा कर उठ बैठे। उनके चारों ओर पुलिस के सिपाही थे और सामने डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस दपलीक खड़े थे। पुजारी जी ससम्भ्रम हाथ जोड़कर उस युगल जोड़ी के आगे खड़े हो गये। साहब का पुराना नाम मुन्नुआ था।

कहने में संकोच नहीं हुआ कि ठाकुर जी के अपमान के कारण ही उस शूद्र का घर मिटकर नष्ट हो गया। माँ मर गई, बेटा लापता हो गया। जमीन का भी कभी कभी दुर्भाग्य होता है, अब वहाँ कुत्ते और बिल्लियाँ तक नहीं रहते। उस समय पुजारी महाराज यह बात भूल ही गये कि उसी बीच उनकी लड़की भी तो मर गई थी। घर में अब दूसरा दिया जलाने वाला नहीं रह गया था। लेकिन शायद यह बात याद भी आ जाती, तो भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता था कि यह भी भगवान का ही कोप है। क्योंकि बात बात में उनके मुँह से निकलता था—'भगवान जो करते हैं अच्छा ही करते हैं।'

[तीन]

इन बातों को बीते जमाना हो गया। न किसी को सुधबुध की याद थी, न उस घटना की। पुजारी जी की उम्र साठ से दो-एक वर्ष ऊपर निकल चुकी थी, तथापि ठाकुर जी की कृपा और तर माल की बदौलत चेहरे पर नौजवानों से बढ़कर रौनक थी। भगवान की रासलीला के अध्याय उस समय वे जिस स्फूर्ति से भावभङ्गी दिखलाते थे, वह श्रोताओं में अनुराग और भक्ति की तरङ्गिनी लहरा देती थी। उनकी चेली-दासी तो उसमें इष्ट-देव का आभास पाकर झूम झूम जाती थीं।

अचानक विपत्ति टूट पड़ी। पुजारी महाराज पर एक बारह वर्ष की युवती पर बलात्कार का अभियोग चला। सारी बस्ती में यह खबर बिजली की तरह दौड़ गई। लोगों को विश्वास नहीं होता था। जो सुनता,

नहीं कानों पर हाथ रख लेता था, पर पुजारी जी कांपते थे। बहुत तलाश हुई परन्तु उनकी गिरफ्तारी न हो सकी। उस दिन से मन्दिर के द्वार अक्सर बन्द रहने लगे। धीरे धीरे भक्तों की भीड़ भी कम होती गई। सुनसान सा हो गया।

माघ की अंधेरी रात थी। पुजारी जी सिंहासन के नीचे भूमि पर माथा टिकाकर क्षमा मांग रहे थे। आंखों में अनुताप के आंसू थे, माथे पर कलंक की कालिमा। जिस मन्दिर पर जन्म भर अधिकार रहा था, वहीं चोरों की तरह खिड़कियों तक लेने में डरते थे। बहुत मिन्नत और प्रार्थना की, पर स्वीकार नहीं हुई। कैसे होती, अनाचार से ठाकुर जी तंग आ गये थे। एक दो नहीं, दर्जनों सखियों के सतीत्व का अपहरण पुजारी जी ने उन्हीं के सिंहासन की ओट में किया था। उस दिन तो उन्होंने सामने ही, चरणों के पास, अपने पापों की गठरी खोल दी थी। प्याला तो लबालब भरा हुआ ही था। एक बूंद तक समाने की गुंजाइश न थी, पर खून भरा मटके का मुंह। तब आजिजी और मिन्नत, क्षमा और प्रार्थना क्या कर सकती थीं।

ठाकुर जी के मुंह फेर लेने पर भी आज पुजारी जी उठते न थे। इसी समय द्वार खुला, और रोशनी का प्रकाश चारों ओर फैल गया। पुजारी जी हड़बड़ा कर उठ बैठे। उनके चारों ओर पुलिस के सिपाही थे, और सामने डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस उपस्थित खड़े थे। पुजारी जी ससम्भ्रम हाथ जोड़कर उस युगल जोड़ी के आगे खड़े हो गये। साहब का पुराना नाम मुन्नुआ था।

इस समय साहब के मन का विचित्र हाल था। वे बीस वर्ष पहले का दृश्य देखकर क्षुब्ध हो रहे थे। वे सोचते थे कि उस समय क्रोध में आकर उन्होंने ठाकुर जी के साथ कैसा दुर्व्यवहार किया था। उन्हीं ठाकुर जी की कृपा से आज यह अवसर मिला, जब उन्हें चमार कहकर निकालने वाला कोई न था। स्वयं पुजारी जी हाथ जोड़ कर क्षमा माँग रहे थे। एक दो मिनट में गत जीवन की सारी बातें एक एक करके उनके स्मृति पथ्य से गुजर गईं। मृत सास ने अन्तिम समय यशोदा का हाथ उन्हें सौंपकर अपनी कहानी टूटे फूटे शब्दों में बताई थी कि किस तरह पुजारी जी अपनी ही असहाय लड़की को छोड़कर अपना कलंक दूर कर आये थे। उन्होंने एक बार भी यह विचार न किया था कि वे अपनी ही संतान के साथ कैसा अत्याचार कर रहे हैं। उन बातों को याद करके एक बार उनकी भृकुटियों पर क्रोध की कुञ्चित रेखा दिखाई दी पर तुरन्त ही प्यारी यशोदा के सशंकित और कौतूहलपूर्ण मुख को देखकर उनका वह भाव तिरोहित हो गया, और उन्हें निश्चय हो गया कि उस दिन की रूखी रोटी सुदामा के चावल बन गई थी। उसी के प्रसाद-स्वरूप उन्हें जीवन में इतने बड़े परिवर्तन का साक्षात्कार हो पाया।

वनलता

द्रुतगामिनी, शुभ्रतोया शुभ्रमखा समीपवर्ती पर्वतमाला से निकल सघन-वनस्थली को चीरती हुई अनन्तकाल से इसी भांति प्रवाहित है। सृष्टि जगत का अनेक बार कायापलट हो चुका। किन्तु उसकी गति का कभी भी अवरोध न देखा गया। उसके अश्रान्त-युगल से उठी हुई विस्फारणों में वही मर्मरध्वनि और तरल-तरङ्गों में वही कल-कल-निनाद है। वहां का सुख शाश्वत, सौन्दर्य चिरन्तन और वैभव अक्षय है। विराट विश्व की प्रकृत शोभा ने केन्द्रीभूत होकर यहां एक अनुपम शृङ्गार की सृष्टि कर दी है। शब्दों में शक्ति नहीं कल्पना में गति नहीं, जो उसकी वास्तविक सुषमा की अनुभूति करा सके।

वहीं एक प्रस्तरखण्ड का सहारा लेकर समीत मृगी की भांति वनलता, अस्ताचलगामी सूर्य का तिरस्कार करती हुई, खड़ी थी। क्षणभर स्तब्ध-भाव से अचल रहकर विकम्पित स्वर में कहने लगी—यहां! पिताजी तो कहते थे कि अब हम निरापद स्थान में आ गये। यद्यपि यह सच है कि शत्रु यहां नहीं नहीं आ सकते; किन्तु पिताजी के चले जाने से मेरे लिये आपदा अवश्यम्भावी है। साथ ही मेरे समीप रहने की अपेक्षा

उनको माता जी के उद्धारार्थ जाना भी आवश्यक था परन्तु इतना विलम्ब क्यों ? क्या असहाय प्यारी माता की वेदना बढ़ गई अथवा पिताजी द्रोहियों के रक्त-रञ्जित हाथों में पड़ गये ?"

उसी समय पार्श्ववर्ती वन-पथ से उछलकर एक सशङ्कित कुरङ्ग-शावक उसके धूलि-धूसरित शीर्ण अञ्चल में शरण माँगने लगा। नर पिशाचों द्वारा पीड़ित, नीरव वनस्थली में आश्रय प्राप्त करनेवाली कनलता ने उसे वनचरों द्वारा सताया हुआ—मातपीत-आश्रय की खोज में, समान दुखित समझ बड़े चाव से स्थान दिया। उसको भुज-लतिकाओं से वेष्ठितकर थपथपाते करते हुए, वह कहने लगी—"हे कानन की आभा ! तुम्हें सतानेवाला क्रूर हिंसक सचमुच ही हृदय-हीन है !" यह सब क्रिया उसने इस भाँति पूर्ण की, मानो वह अपने समस्त दुःख भूल गई हो।

इसी समय पीछे से अकस्मात् सूखी सघन झाड़ियों को चीरकर तीन शस्त्र-धारी यवन निकल आये। विजन विपिन में असहायावस्था रमणी-रत्न को मृग शावक के साथ देखकर कौतूहल एवं भय ने उनके हृदय को हिला दिया। घुड़सवार के पिये उन्होंने अपने अपने आपको धार विपद् में पड़ा हुआ समझा। उनका यह सन्देह स्वाभाविक ही था कि न जाने कितने लोगों ने भागकर इस उपत्यका में आश्रय लिया है। यदि यहाँ से निकल-भागने का मार्ग सुगम होता तो इसमें सन्देह नहीं कि वे लोग वैसे ही लौट चलते, किन्तु इस दुर्गम घाटी से किसी की दृष्टि में पड़कर भी निकल भागना वस्तुतः असम्भव था। अतएव जब 'उभय भाँति देखा निज मरना' तो उन्होंने सोचा—यदि विपत्ति का कोई कारण उपस्थित होगा, तो इसी युवती

बच्चे, हमें कामिल यकीन है कि तुम्हारी मर्जी कुबूल होगी।

विपत्ति के समय मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाया करती है। उसे भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता। उसकी सत्यासत्य-विवेचन शक्ति लुप्त हो जाती है। अतएव माता-पिता के वियोग में व्याकुल वनलता जैसी भोली युवती का बाह्य विश्वास्य क्षमा के कपट-जाल में फँस जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। बेचारी को विश्वास हो गया। उसने सोच लिया कि पिता के कल्याण के लिये उसे क्या करना चाहिये। तदुपरान्त अधिक उधर-उधर न कर वह तुरन्त बादशाह के पास चलने को प्रस्तुत हो गई किन्तु अब दो कामातुर सैनिकों को यह प्रस्ताव पसन्द न आया। वे उस कली के जाने से पूर्व ही अपनी वासना तृप्त किया चाहते थे। फलतः उन्होंने पहले शब्दों से फिर बलपूर्वक प्रतिरोध करना आरम्भ किया किन्तु पहला सैनिक स्वामिभक्त, दृढ़चित्त और स्थिर प्रतिज्ञ था। उसने उनकी किञ्चित् परवा न कर चमचमाती हुई अनुपाकार खड्ग के सहारे से एक की जीवन-लीला का पटाक्षेप करते हुए पुनः तलवार खींच ली। एक क्षण में इतनी बड़ी घटना घट गई। दूसरा सैनिक मालो की रक्षा के लिए अपने उस साथी के पैरों पर लोट गया।

वनलता को इस तरह के दृश्य देखने का अभ्यास न था। वह चेतनाहीन होकर कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ी।

[ग]

जिसके जीवन-नाटक का प्रथम पट राजकुमारियों के साथ [illegible]

परिच्छेद में सीता और द्वितीय अङ्क में उल्लिखित पद्मा क्रम सङ्कुचित हुआ, प्रस्तुत दृश्य उसी वनलता को दुखियारी बन्दिनी के रूप में उपस्थित करता है।

परन्तु अब वह भ्रम में नहीं है, सन्देह उसे नहीं सताता। वह अपने बन्दी-जीवन को दुःस्वप्न का परिचायक नहीं समझती। वह शारीरिक यन्त्रणाओं को अनुभव करती है—शाह के कपट-जाल का उसे ज्ञान है। वह उसके दृष्टिकोण को समझती उसके उपालम्भ को चुपचाप सुनती और उसकी मदोन्मत्त कुचेष्टाओं का तिरस्कार करती है। शाह भी उस अपरोप पत्थर-सदृश रमणी की सान्त्वना से तिरस्कृत होकर चुप रह जाता है, उसके क्रोध विकम्पित क्षीण कलेवर को देख कर काँप जाता है, साथ ही उसकी एकाग्रनिष्ठा, अविचलता, सहनशीलता और दृढ़ता को देखकर वह अपने नेत्रों की स्थिति पर सन्देह करने लगता है।

साधारण मनुष्य की कन्या क्या कर इतनी अभिमानिनी हो सकती है जो जहांपनाह की अंकशायिनी बनने के गौरव का तिरस्कार कर दे यही बात उसकी समझ में न आती थी। वह सब तरह के प्रयत्न करके हार गया पर वनलता को वश में न कर पाया। नित्य नये प्रलोभनों के साथ वह उसे पाने की कोशिश करता पर अपूर्व था उसका संयम, अद्भुत थी उसकी निष्ठा जिसके सामने सुलतान को निष्फल ही होना पड़ता। परन्तु वह कब तक सह सकता था। इसीलिए वह वनलता को नीत लिये जा रहा था।

[तीन]

वनलता के पिता ने नगर में लौटकर जो दृश्य देखा, उससे

उसका हृदय काँप गया। जहाँ पर कुछ दिन पूर्व गगनस्पर्शी अट्टालिकाएँ मेघों-सी खड़ी थीं, वहाँ मिट्टी और पत्थर के ढेर पड़े हैं। जो सघन और कोलाहलपूर्ण निवास स्थल थे, वे नीरव और उजाड़ मैदान नजर आते हैं। शौक-विहारिणी-कोकिल-कंठी-पुरांगनाएं, जिन्होंने कभी द्वार का मुँह नहीं देखा था पथ की भिखारिनी हो रही हैं। जिनके अगणित दास दासी थे वे स्वयं म्लेच्छ सरदारों और साधारण सिपाहियों की परिचर्या कर रही हैं। अनेकों अकंपनी शिखाएँ झुकाकर विदेशी धर्म की दीक्षा ले रहे हैं। देवालय कुकर्मों के अड्डे हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त हो रहा है—भीषण रक्त-पात।

कोई भी यवन सिपाही किसी भी हिन्दू सरदार के अन्तःपुर में बेरोक टोक जाकर मनमाने पाशविक अत्याचार कर सकता था। हिन्दुत्व का मान, हिन्दुत्व का गौरव पद पद पर लाञ्छित अपमानित एवं पद दलित देखकर चम्पत के हृदय में गहरी ठेस लगी किन्तु वह क्या कर सकता था! बेचारा सब कुछ चुपचाप देखता हुआ अपने घर की ओर जा रहा था। नहीं कह सकते कि उसके हृदय में अपनी प्यारी स्त्री सुनन्दा के विषय में क्या-क्या भाव उठ रहे होंगे। जिस समय उसने अपनी सयानी कन्या मनस्वता के साथ घर त्यागा था, उस समय प्रिया सुनन्दा का आकस्मिक बीमार होने के कारण भाग्य के भरोसे मकान पर ही छोड़ जाना पड़ा था। अतएव उपरोक्त दृश्य देखकर चम्पत का उसके विषय में चिन्तित होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। जैसे-तैसे वह गली-कूचों को पार करता हुआ अपने मुहल्ले में पहुँचा, तो क्या देखता है कि वहाँ किसी उपद्रवी ने आग लगा

मासों का हृदय टूक-टूक हो जाता था, वसुन्धरा काँप जाती थी, दिशाएँ रो देती थीं और शिलाखण्ड पिघल जाते थे, किन्तु उन दुष्टों पर इसका तनिक भी प्रभाव न पड़ा। उन्होंने झटके के साथ उसे खींच लिया। तत्पश्चात् शिला खिसक कर ढह पड़ा, वसुधा पनाह मांगने लगी, वसुन्धरा पाप भार से दब गई और प्रकृति ने विष्णुवत् की भांति न बंधी हुई उसाँसें भरकर उनके कार्य को पूरा हो जाने दिया।

[चार]

'इस्लाम या मृत्यु—जो चाहो स्वीकार कर लो!'—यह शाही फरमान आबाल-वृद्ध-वनिता समस्त बंदियों को सुना दिया गया। बहुतेरे प्राणों के भय से फिसल पड़े। हिन्दुत्व के चिह्न उतारकर, क्षणिक अपमान को सहकर सांसारिक सुखलाभ के लिए पर-धर्म में दीक्षित हो गये। बहुत से अपने रक्त के पक्के थे, उन्होंने दृढ़ रहकर धर्म की मर्यादा को स्थिर रखा। वे एक-एक करके तलवार के घाट उतार दिये गये।

आज चम्पत की बारी है। अनेक डाँट-धौंस समझाने पर भी जब उसने इस्लाम स्वीकार करने में आना-कानी की, तो उसे भी वधस्थल की ओर जाने की आज्ञा हुई। उसकी गर्दन तलवार के नीचे पहुँच गई। मारने में देर नहीं थी कि उसी समय एक पाइक ने शाही हुक्मनामा लाकर दिया। आई हुई मृत्यु टल गई। तलवार म्यान के अन्दर पहुँच गई। चम्पत के बहते हुए आँसू सामयिक उत्स जलप्रपात की भांति बहते ही रहे—दुःखी हृदय की दर्द भरी आहें किञ्चित् कम न हुईं।

चम्पत अब तक वनलता के विषय में निश्चिन्त था। उसे मालूम न था कि, वह भी कारागार की यातना भोग रही है। आज उसे घोर विपद् में पड़ी हुई सुनकर उसका अन्तर मर्मान्तक पीड़ा से अभिभूत हो गया। किसी तरह यह समाचार झुठलाया जा सकता—यदि प्राणों के मोल भी इसकी असत्यता खरीदी जा सकती—तो भी चम्पत के लिये वह सस्ती थी किन्तु दुखिया पर ही दुख का पहाड़ टूटता है। नहीं तो जिसका घर बार छूटा, पत्नी अकाल-मृत्यु का ग्रास हुई, पुत्री विधर्मियों के अत्याचार का शिकार बनी, स्वयं की कोई गति शेष न रही फिर भी उसका दुखों से छुटकारा न हो।

देर तक विचार करने के उपरान्त उसने आत्महत्या करना निश्चय किया; पर किसी अज्ञात प्रेरणा ने उसे रोक दिया। उसके हताश हृदय में आशा की तरङ्ग सी उठने लगी। उसका कुम्हलाया हुआ वदनमंडल प्रफुल्लित सा ज्ञात होने लगा। उसे प्रसन्न देखकर अन्य सिपाहियों को भ्रम हुआ कि उन्होंने थोड़ी देर पहले जो संकेत उसे दिया था उसे पूरा करने के लिए वह तैयार है। उन्होंने अब स्पष्ट शब्दों में उसे कहा कि वह वनलता को समझावे कि वह मुसलमान का प्रस्ताव स्वीकार करले। हठ करने से कोई लाभ नहीं है। यदि वह उसे मना सका तो उसका शेष जीवन सुधर जायगा।

उसने मौन भाव से सब कुछ सुन लिया। लोगों ने उसे स्वीकृति का चिह्न समझा। नाना भांति उसकी आलोचना होने लगी। 'मृत्यु किसे प्यारी होती है। पर आई हुई सम्पत्ति पर कौन लात मारता है। उसे

पद की किसे अभिलाषा नहीं ? साधारण माली से बादशाह का प्रिय बनना कौन न चाहेगा ?" इत्यादि। बात की बात में यह समाचार सारी छावनी में फैल गया। लोग आ आकर उसे अभिनन्दन देने लगे। उसने भी मुस्कराकर, हँसकर उनकी बात का अनुमोदन किया और कहा—"ईश्वर की कृपा से सब कुछ ठीक ही होगा। आप लोग चिन्ता न करें, मैं अपने कर्तव्य से भली प्रकार परिचित हूँ।"

अनेक प्रकार से परीक्षा ले-लेने के उपरान्त उसकी पेशी भार दी गई। गुप्त चर उसके चारों ओर लगा दिये गये। कहने को तो वह इस समय स्वतन्त्र था। किन्तु उसके प्रत्येक कार्य का निरीक्षण अनिमेष दृष्टि से होता था। उसके बहुतेरा चाहने पर भी अभी वनलता से भेंट का अवसर नहीं मिला था।

जिस समय चम्पत के साथ यह सब बातें हो रही थीं, उस समय वनलता की अवस्था बड़ी दयनीय थी। प्रति दिन उसके साथ असद्व्यवहार करता जा रहा था। उसके नेत्रों से गङ्गा-यमुना की अविरल धारा प्रवाहित थी, प्रत्येक उपाय से उसे विवश किया जा रहा था। किन्तु वह भी अपनी हठ पर अटल थी। उसे वश में लाने में कोई उपाय उठा न रक्खा गया। जब सती के आगे साम, दाम और दण्ड सभी निष्फल हो गये, भेद नीति का अवलम्बन कर कार्य को सफल बनाने का प्रयत्न किया गया। चम्पत को आज्ञा हुई कि वह जाकर वनलता को सही-रास्ते पर लावे। बेचारे ने सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया।

चम्पत ने कई प्रमुख व्यक्तियों के साथ कारागार में प्रवेश किया।

वहाँ भी कुछ गुप्तचर अप्रकट रूप से पहले से ही नियत कर दिये गये थे। चम्पत ने आगे बढ़कर मर्दाई आवाज में पुकारा— बनलता, बेटी बनलता!

बनलता इस चिरपरिचित बोली को सुनते ही भागकर द्वार पर आ गई। पिता के साथ कई अपरिचित व्यक्तियों को देखकर वह कुछ ठिठकी किन्तु तुरन्त ही 'पिताजी, आ पिताजी' कहती हुई उससे लिपट गई।

पिता ने बांहें फैलाकर बेटी को आलिंगन में जकड़ लिया। उसे कलेजे का टुकड़ा कहकर प्यार किया पर तुरन्त ही उसके दाहिने हाथ में एक कटार चमक उठी और तत्काल बनलता के सीने को चीर कर पार कर गई। एक हलकी सी चीख के साथ सब कुछ सहज भाव से शान्त हो गया।

चम्पक को तत्काल काबू में कर लिया गया। उसने भी किसी प्रकार का प्रतिरोध न किया। एक प्रकार से अविरोध समर्पण कर दिया।

एक बिजली की भांति वह सुल्तान के सामने पेश हुआ। दुखी और पराजित सुल्तान ने खीझकर ऐसे लू. खार पिता की जीवित ही खाल खींचने की आज्ञा दी।

सुल्तान के आदेश का अक्षरशः पालन किया गया।

पश्चात्ताप

एक दिन ऐसा होगा जब जमीन उलटकर आसमान का जगी
आजायगी, और तारे टूटकर पैरों के नीचे कुचले जायेंगे, इसी तरह की बातें
बाबू दीनदयाल अक्सर कहा करते थे। वे जब हुक्का लेकर आराम कुर्सी
पर लेट रहते, तो इसी तरह की गप शप में समय की बरबादी होती थी।
दिल पर मजा यह कि मैं जब कभी राजू के घर जाता, तो दो-चार-दस मिनट
उनके पास जरूर बैठता था।

दीनदयाल साढ़े सत्तरह बार हाई स्कूल की परीक्षा में शरीक हुए,
लेकिन गजट ने सदा धता ही दिया। न मालूम यूनीवर्सिटी के रेकार्ड-कीपर
से लेकर परीक्षक तक क्या मामा लगाकर बैठते थे! वरना ऐसे भाग्य और
तत्वदर्शी महापुरुष के लिए मैट्रिक परीक्षा कोई चीज नहीं थी।

उनके स्वभाव के साथ आलोचना मिलकर एक हो गई थी।
लेकिन यह खयाल रहे कि उनकी आलोचना का विषय आजकल के लेखकों
की तरह तुलसीदास सूरदास नहीं होते थे, बल्कि होती थी चाय की वह
प्याली या पान का वह बीड़ा—जिसे भरजाई लाकर अपनी बावलेपन की
भरी से उन्हें पकड़ा देती थी। न रुकने न—सुराज। बस पान में बड़ी
फुरती की। मालूम पड़ता है असली मसाला का नहीं था।—इसके तो

पहचान ली गई होगी। कल शायद मेरी मामी ने अपने शऊर का ढोंग रचाया था।

सरोज हँस देती थी, या मुस्करा देती थी, यह ठीक-ठीक याद नहीं आता पर कुछ कर देती थी, जिससे मेरे हृदय में गुदगुदी मच जाती थी। सरोज सचमुच ग्यारह बरस से ज्यादा न थी।

सरोजिनी से फ़ज़ूल वाग्विवाद रोज ही होता था। कुछ दिन में मुझे ऐसा मालूम पड़ने लगा जैसे सरोजिनी की याद के साथ मेरा चिरन्तन सम्बन्ध है। उसे एक दिन न पाने से जैसे मुझे कुछ हो जाता है। बाबू दीनदयाल की दार्शनिकता में डारविन का विकासवाद, स्पेन्सर की ज्ञेय मीमांसा और कास्ट का समाज-विज्ञान सब जैसे आकर घुलमिल गये थे। इसीलिये कभी-कभी मैं बेहद उत्तेजित होकर विश्वविद्यालय के अधिकारियों की बुद्धि का उपहास करने लगता था। इस पर कई बार मेरे मित्रों में गर्मा-गरम बहस भी हो चुकी थी। उनकी राय में बाबू दीनदयाल मालदार पिता की निकम्मी सन्तान थे। उन्हें वे सब सनकी और मनमौजी कहा करते थे। पर मुझे न मालूम क्यों ऐसा न होता था।

[दो]

राज के पास होने का टेलीग्राम आया। मैं दौड़कर अपने कमरे में किताबों के ढेर के पास लेट गया। जानता था बेफ़िक्र तलब होगी। अनुमान में ज़रा भी फ़रक नहीं पड़ा। धम-धम करके मामी जीने पर चढ़ गईं। बहन, बुआ सभी के पैरों की आहट और बातचीत मेरे कानों में पड़ रही थी।

पिताजी नीचे मौसी से शायद इसी सम्बन्ध में कुछ चर्चा कर रहे थे। एक क्षण में मैं जैसे हिरासत में ले लिया गया। हार के पास धी-धी, धुक-धुक होने लगी जैसे मेरे हृदय में बर्छी की नोक की तरह छिद रही थी।

माभी किवाड़ ठेलकर आईं, और मेरे शिथिल पड़े हुए शरीर में मोठी चुटकी लेकर कहा—पाठ जमना चाहते हैं, उठकर मुंह धो डालो। अब स्कूल नहीं जाना पड़ेगा, लाला जी। कालेज में जाकर पढ़ना। सुनती हूँ, वहाँ खूब मज़े रहते हैं।

मैंने करवट बदलकर आँखें मलते हुए कहा—नहीं, मुझे मज़े नहीं चाहिए। जाओ, सोने दो।

बहन ने आकर कहा—अच्छा! अभी तक सोने के लिए ही मचल रहे हो! ज़रा उठकर चलो तो, पिताजी पुकारते हैं। रामू के पास होने का तार आ गया है, आखिर तुम्हारा क्यों नहीं आया?

मैंने जिस मतलब से पढ़ा था, उसके अनुसार तार मँगाना पहले सिर की धकधुकी थी। लेकिन इसका कोई ढंग ठीक बताना भी तो नहीं था। मजबूर होकर मैं उठ बैठा। तीन बार शरीर को तोड़-मोड़ कर जँभाई ली और आश्चर्य प्रकट करके पूछा—रामू का तार आ गया और किसी का नहीं?

बहन—यही तो पिता जी पूछ रहे हैं, चलकर बतलो तो सही।

मैं बहुत देर तक इधर उधर करने के बाद नीचे गया। उस समय पिता जी घर में न थे। कहीं बाहर चले गये थे। मौसी से दो एक बातें करके, मुँह हाथ धोकर मैं बाहर निकल गया।

मैं नज़र बचाकर जा रहा था। आज सच-मुच किसी से बात करने को जी नहीं होता था, पर बाबू दीनदयाल क्यों मानने लगे। अपने कमरे से ही पुकारा—किधर चुपके-चुपके निकल जा रहे हो ?

मैं जैसे भूलकर चला जा रहा था, ऐसा भाव दिखा कर रुक गया और जबरदस्ती होठों पर हँसी लाकर उनकी बैठक में शामिल हुआ।

बाबू दीनदयाल लखनऊ के अमीरों की मानगी का मजा ले रहे थे। एक कश खींचकर दूसरी बार धुएँ को छोड़ते हुए बोले—पाँच मिनट देर से आये। सरोज ! चाय ख़तम हो गई तो शर्म की क्या बात ! पान ही लाकर दे। एक ही जगह से सही। लेकिन यह मानता हूँ आज की चाय थी बेहद वाहियात। गोविन्द ! यह बात तुम्हें माननी पड़ेगी कि मेरी बातों पर ध्यान देने से सरोज बड़ी सलीक़े की हो गई है।

पान लेकर मैंने कहा—आज माफ़ कीजिये। मैं ज़रा राजू के मकान तक जा रहा हूँ।

बाबू दीनदयाल ने कहा—अरे हाँ, तू कहती थी न कि राजू का तार आया है ? वह पास हो गया है, क्यों ?

सरोज—हाँ यही तो भैया कहते थे—यह कहकर सरोज ने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा, कुछ पूछा नहीं। पूछने की जरूरत भी न थी। उसके मूक संकेत की लिपि पढ़ने में मैं काफ़ी होशियार हो चुका था, लेकिन इसका उत्तर मेरे पास क्या था।

मैंने बाबू दीनदयाल की ओर मुँह करके कहा—यही पता लगाने तो जा रहा हूँ।

हीमदमल—हाँ—हाँ, जरूर। मुझे भी छोड़कर जाना होगा।

[तीन]

रामू के घर पर पूरी मित्र-मण्डली जमा थी, यह खबर मुझे बाहर ही नौकर से मिल गई। उसने यह भी बतला दिया कि बच्चिया के साथ रामू श्यामू को छोड़कर मुहल्ले के सभी लड़के पास आ गये हैं—उसने जरा गम्भीर बन कर मुझसे पूछा—बाबू आपका मठाधी तो अच्छा रहा होगा!

मैंने कहा—कुछ पता नहीं!—और मैं जल्दी से अन्दर चला गया। सब लोग बैठे मेरी ही चर्चा कर रहे थे। मेरे पहुँचते ही क्षणभर को सन्नाटा छा गया। रामू ने कहा—आओजी गोविन्द, मालूम हुआ, तुम आज भी काम का तलाश नहीं कर सके!

मैं—यह पहले ही से मालूम है उसके लिये मैं व्यर्थ परेशान नहीं होना चाहता। पास न होने से भूखों मर जाना पड़ेगा, जिसे यह डर हो वह पढ़-पढ़कर शरीर को सुखाया करे।

विजय ने आंख भर कहा—भूखों मरने का न भी हो। तो उस्ताद से बढ़ जाने का डर बना भारी रहता है! मेरी भी यही सलाह है गोविन्द बाबू कि शागिर्द को उस्ताद के कदम पर ही कदम बढ़ाकर चलना चाहिये, और फिर ऐसे उस्ताद जिनका नाम संसार में विश्वकोष की पूरी जानकी सुरक्षित है।

मैं—उसके कहने की आवश्यकता नहीं। मैं तो पहले से ही इसी मत का हूं। यदि तुम्हारे कथन से यह निकाल लिया जाय तो मेरे और

तुम्हारे विचार में रत्ती भर अन्तर न रहे।

विजय—मैंने व्यंग तो किया नहीं। जिसने किया उससे तो आप कुछ कहने का साहस भी न कर सके। निर्बल के सिर पर हाथ मारने की प्रवृत्ति प्रशंसनीय नहीं होती।

सब लोग हँस पड़े, लेकिन मैंने उसी तरह साधारण भाव से कहा—अगर तुम्हारा यह भाव नहीं था, तो कोई बात ही नहीं। लेकिन और किसने क्या कहा था, यह क्या मुझे ?

विजय—मैंने इस सब का ठेका तो ले नहीं रक्खा है। राजू की ओर मुँह करके कहा—भाई! अब क्यों नहीं कहते हो? किस की बात का आशय नहीं समझ सके ?

विजय के अकारण क्रोध का रहस्य पलक मारते ही मेरी समझ में आ गया। मुझे उसकी मोटी बुद्धि पर हँसी छूटी लेकिन उस भाव को दबाकर जरा बनावटी क्रोध दिखाते हुए मैंने कहा—विजय, यदि एक बार तुम भी पी पाते, तो फिर जबान को वश में रखना कठिन हो जाता।

विजय हन्टर की सी चोट खाकर तिलमिला गया। आवेश में बोला—मुझे पीनी हमी तो किसी सलाह या सिफारिश की जरूरत न पड़ेगी, लेकिन एक भद्र परिवार की चर्चा इस तरीके से करना सभ्यता नहीं है।

मैं—उसका उत्तरदायित्व मैं अच्छी तरह समझता हूँ। इसके सिवा मुझे उनके विषय में कोई भी बात कहने का अधिकार है।

विजय—अधिकार है! वाकिफ मैं नहीं समझता था कि परमात्मा ने तुम्हारे हिस्से की सारी बुद्धि का किसी दूसरी जगह उपयोग किया है।

मैं उसीमें स्वीकार हो पाता ! बस जब तक है तब तक उसी तरह सब जगह आना-जाना रहेगा। मैंने घर में सब लोगों से कह दिया—देखा जायगा। समय पर जैसा समझ में आवेगा वैसा करूँगा। अभी क्या जल्दी पड़ी है ?

उस दिन मैं बाबू दीनदयाल के द्वार पर पहुँचा तो बैठक बन्द थी। खटखटाकर खड़ा हो गया। नौकर आकर मुझे ऊपर ले गया। ऊपर पहुँचने पर बैठक बन्द होने का कारण समझ में आ गया। विजय बाबू आज भाभिनी के हाथ की चाय पीने आये थे। वे बहुत खुश होकर कह रहे थे—आगे से कोई सरस विषय लूँगा।

ठीक इसी समय मैंने कमरे में पैर रक्खा। बाबू दीनदयाल ने मुझे लक्ष्य करके कहा—ओहो ! गोविन्द पास होने की प्रसन्नता में मालूम पड़ता है जिससे तुमको ध्यान नहीं रह गया है ?

मैं—पास होने का गुमान भी न था फिर भी पास हुआ इसलिये खुशी तो कुछ लोगों से ज्यादा ही है पर जिसकी तुमने मैं यह भावना हो वह बात नहीं है।

दीनदयाल—और-और जाने दो। लो अपनी प्याली उठाओ। आज तुम्हें सरोज की कुशलता की तारीफ करनी ही पड़ेगी।

मैं चाय का पारखी नहीं हूँ तो भी आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। मैं उठकर चाय पीने लगा।

बाबू दीनदयाल ने विजय की ओर इशारा कर पूछा—क्यों चाय पसन्द नहीं आ रही है ? आप शायद काफी पसन्द करते हो। बोलिये



दूसरे-तीसरे ही दिन प्रभुत मित्रों की चल रही बात समाप्त हो गई। विजय ने इसका मूल कारण मुझे ही समझ तो भला नहीं किया, पर इसमें मेरा हाथ रत्ती भर नहीं था। बल्कि भरसे तक तो मुझे इसका पता भी नहीं चला था।

[पांच]

मैं इलाहाबाद पढ़ने गया तो विजय आगरे पहुंचा। कुछ दिन बाद बाबू दीनदयाल सरोजिनी और अपनी बहन सावित्री को लेकर प्रयाग आ पहुंचे। कई दिनों तक मुझे फिर सरोजिनी के हाथ की मिठाई और चाय नसीब हुई। वे दिन बड़े मजे से बीते।

उसके बाद वे लोग बनारस जाने की तैयारी करने लगे। वहां से अयोध्या, लखनऊ होकर फिर मैनपुरी लौट जाना था। मैं उन्हें लेजाकर गाड़ी में चढ़ा आया। गाड़ी चलने को हुई तो सरोजिनी ने दो बीड़े मुझे अपने हाथ से दिये। खिड़की में सिर डालकर मेरी ओर कितने ही आंसू गिराते गिराते वह विदा हो गई।

मैंने अपने मन को संयत करके कहा—रोती क्यों हो पगली! घूम फिरकर जब तुम पहुंचोगी, तब तक मैं भी पहुंच जाऊंगा।

सरोजिनी के दिये हुए बीड़े चबाता हुआ मैं प्लेट-फार्म से निकल आया। बाबू दीनदयाल मुझे एक बड़े उत्तरदायित्व का काम दे गये। उन्होंने कहा—सरोज के लिये सुपात्र की तलाश करके लिखना।—मैं आकर देख लूंगा और सब कुछ तय कर जाऊंगा। श्यामाकान्त की इच्छा

है, पर सब कार्य जल्दी ही हो जाय।

मुझ पिता की राय में सरोज लड़की नहीं देवी थी। रूप-गुण उसने जैसे कुछ पाये थे, वैसा ही सरल और मधुर स्वभाव भी। उसके भविष्य-जीवन की नाव का डाँड किस माँझी को दिया जाय, यह समस्या उनके लिए सहज नहीं था।

मेरी तो पूछिये ही मत। मैं तो सरोज को स्नेह की दृष्टि से देखता ही था।

मैंने सारे काम छोड़कर साइकिल उठा ली। एक एक कालेज, एक एक होस्टल छान डाला। इधर उधर अनेक मित्रों से मिला, अनेक लड़के देखे। मुझे केवल दो लड़के पसन्द आये, एक फर्स्ट ईयर में था, दूसरा बी० ए० में। इनमें भी फर्स्ट ईयर वाले लड़के को मैंने विशेष रूप से चुना। उसका परिवार उन दिनों प्रयाग में ही था। पता लगाया, मिला। सब बातें वैसी मैं चाहता था, वैसी ही मिल गईं।

उसी दिन तार देकर मैंने दीनदयाल बाबू को बुलाया। वे आकर शादी पक्की कर गये। उन्हें भी लड़का पसन्द आया—उस दिन मैं खुद भी अपनी व्यवहार-कुशलता पर मन ही मन गर्व करके खुश हो उठा।

मेरे मन में सरोजिनी के भविष्य की सुखमय कल्पना का मधुर आभास अंकित हो गया, मेरी हृदय-वीणा के किसी तार में गुप्त रूप से हर्ष का कंपन प्रतीत होने लगा।

शीघ्र ही सरोज के ब्याह का निमंत्रण पत्र आ पहुँचा। हृदय में हर्ष की एक लहर आरपार हो गई। उसका सम्बन्ध मैंने ही तय किया था। खासकर

पत्र पढ़ा। ब्याह की तिथि इतनी जल्दी रक्खी गई है। दूसरे ही दिन एक्सप्रेस से चल दिया। मेरे मन में कितना उत्साह था, कितना हर्ष था बयान नहीं हो सकता। मैं सोच रहा था कि कब जाकर सरोज से कहूँ कि देख! मैंने तेरे लिये कितना सुन्दर सा वर तलाश किया है!— उसके एवज में मुझे एक बार अच्छी तरह से बनाकर चाय तो पिला दे।

सरोज का पाणिग्रहण हो गया। अवसर पाकर मैंने अपनी शिकायत उसे सुनाई। उसने हँसकर मुँह छिपा लिया। चाय न पिला कर भी उसकी हँसी में जो कृतज्ञता की झलक थी उसने मेरे हृदय को अपरिमित सन्तोष से भर दिया।

प्रसन्नता के उसी आवेग में मैं बाहर आया तो मेरे नाम की रजिस्ट्री लेकर पोस्टमैन खड़ा था। मैंने हस्ताक्षर करके लिफाफा ले लिया, खोला और पढ़ने लगा। चिट्ठी विजय ने आगरे से भेजी थी। उसने लिखा था— 'तुम घर ही पर होगे, सरोज का ब्याह है न? यह इसीलिये वहीं के पते से लिख रहा हूँ। भाई, बहुत कुछ उचित अनुचित कह चुका हूँ। यदि पहले जानता कि तुम सरोज को क्या समझते हो, तो यह सब न होता। पर एक बात कहूँगा, अगर तुम्हें यही करना था, सरोज को तुम किसी दूसरे को ही सौंपना चाहते थे, तो मैं उतना बुरा न था, पर यह सब कैसे कहूँ! मैंने उसके वर को नहीं देखा है, देख भी नहीं सकूँगा। जब तुमने और सरोज ने ही मुझे इस योग्य नहीं समझा है, तो मैं भी नहीं समझना चाहता हूँ। पर दिल टूट गया है, वह समझाया नहीं जा सकता—खैर, मेरी भूल को क्षमा तो कर ही देना, आशा है अवश्य कर दोगे। और चाय कुछ हो

तुम इतने बड़े दिल के कभी नहीं हो सकते कि इसके बाद भी मेरे नाम को क्षमा करो।

पत्र मेरे हाथ में रह गया। बीते दिनों की अनेक घटनाएं मस्तिष्क में ताजी हो गईं। विक्रम की नादानी ने क्या का क्या करा डाला। कमबख्त थोड़ा पहले अपने जी का आभास दे देता तो शायद मैं कुछ कर सकता और मुझे विश्वास है कि छाया भी विरोध न करती।

क्रान्ति

राम झरोखे बैठि के, सबका मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, तैसा ताको देय॥

सीताराम, बाबा! सीताराम—थोड़ा उपकार कर दे। भगवान स्वामी तुम्हें बहुत कुछ देंगे—यही शब्द थे जो गोपाल और रामू के कानों में गूंज गये और एक जटाजूटधारी संन्यासी कमण्डल मृगछाला लिए आकर द्वार पर खड़ा हो गया।

गोपाल ने जेब से एक इकन्नी निकाली और बाहर फर्श पर फेंक दी। वैरागी ने लपककर उसे उठाया और वसुन्धरा को रौंदता हुआ चला गया।

रामू ने गोपाल की ओर देखकर कहा—भाई! आजकल तुम्हें रोजों खैरात का कोई विशेष कारण है क्या?

गोपाल ने मुस्कराकर जवाब दिया—विशेष न सही, तब भी खैरात करना बुरा नहीं है।

बुरे न होने से भी कुछ काम नहीं किये जाते। हर काम करने

[शक्ति

में विचार की जरूरत पड़ती है। मनुष्य के पास जो स्वाभाविक बुद्धि है। उसकी सृष्टि इसीलिए हुई है कि भेड़ों की तरह आँख मूँदकर किसी परम्परा का अनुसरण नहीं करना चाहिए।—रामू ने कुछ रुष्ट होकर कहा।

गोपाल को हँसी आ गई। उसने खिलखिलाकर उत्तर दिया—बुद्धि इतनी सस्ती भी नहीं है कि फकीरों को भीख देने तक भी उसका उपयोग किया जाय। इस तरह बात बात में उसका अपव्यय करके कोई बुद्धिमान् कहला सकता है, इस पर मुझे कतई विश्वास नहीं है।

जो बुद्धि इतनी उथली और मन्द है कि वह मेरे आशय की गहराई का नाप नहीं सकती, उसे बुद्धि कहना ही भारी दुर्बुद्धि है—रामू ने भी हँसकर कहा।

गोपाल—पर जिस आशय में केवल गहराई ही गहराई हो, जिसके आकार का कहीं पता ही न हो, उसे मापने जाकर क्या बुद्धि भी गोता नहीं खाने लगती! कहिए कृपानिधान! तुम्हारे कथन में यदि सचमुच कोई तथ्य है तो उसे सीधे-सादे शब्दों में कहिए। मैं सुनकर उससे कुछ लाभ उठाने की चेष्टा करूँ।

रामू—मैं बलात् किसी व्याख्यान की रचना कर उपदेश देना नहीं चाहता। बात सिर्फ इतनी सी है कि जिस भीख को समर्थ आदमी इतनी लापरवाही से दे डालते हैं उसके विषय में सोचना तक नहीं चाहते, चाहे जैसा उसका दुरुपयोग हो, इससे उन्हें कोई वास्ता नहीं रहता। याचक उनके उन्हीं पैसों से चाहे जहर खरीदकर एक हजार प्राणियों को समाप्त

कर दे वे उसे पुण्य के पथ में जमा हुआ ही समझते हैं। वास्तव में अधिकांश पाप पुण्य का उत्तरदायित्व उन पर रहता है, जो इस तरह पात्र-अपात्र की पहचान किये बिना दान दे डालते हैं। जो धन किसी विधवा के बच्चों को भोजन देकर आशीर्वाद का रूप धारण करता, वही जरा-सी लापरवाही से, चरस और गांजा की चिलमों का धुआं बनकर उड़ जाता है, या और बहुत सी गन्दी बातों में व्यय होकर विषैले कीटाणुओं का उत्पादक बनता है।

गोपाल ने बीच ही में रोककर कहा— मानता हूं भाई, अब किसी तरह काम करो व्याख्यान को। बी उसमें लगा है। कोई ऐसी चर्चा करो जिससे दिल खुश हो।

रामू ने हँसकर कहा—अच्छी बात है इसे जाने दो। हाँ तो, अब यह बतलाओ कि इस तरह अहलदिली से नैरात का क्या वास्ता है? किस खुशी में यह सब हो रहा है। आज ही नहीं, कई दिनों से, दोस्तों की दावतें चल रही हैं? सैर सपाटे, सिनेमा थियेटर, और न जाने क्या क्या। मुझसे उड़ो नहीं, बच्चू! ठीक-ठीक कहो, मामला क्या है?

गोपाल ने रुठी हँसी हँसकर खिजलाते हुए कहा—बड़े वहमी हो, बड़े बुद्धू हो, और बड़े जिद्दी हो।

और उपाधियाँ देनी हों दे डालो। यह उत्सव का समय है। मैं उन सब का स्वागत करता हूँ—रामू ने मुस्कराहट छिपाकर कहा, पर यह याद रखना कि आज तुम्हारे छिपाने से कोई बात छिपनी नहीं। आज मैं रत्ती-रत्ती पूछ लूँगा। हर एक बात तुम्हारे मुँह से कहलाकर मानूँगा।

बातों, ठीक-ठीक कहो।

गोपाल ने हंसकर कहा—तुम झूठ हो। तुम्हारा दिल काला है। इसीसे तुम दूसरों को झूठा समझते हो।

रम्मू खड़ा हो गया। मुस्कराकर दोनों हाथ जोड़कर माथे से लगाकर कहा—अन्नदाता श्री महाराज! सो आप ही कहिए। मैं विश्वास कर गा।

गोपाल—वैसी कोई बात ही नहीं है। मैं जो कह चुका हूँ, कभी उससे पृथक् नहीं होने का। घर में चाहे जो होता रहे, उसका मैं जिम्मेवार नहीं, न उससे मुझे कोई मतलब। मेरा निश्चय अटल, अचल और दृढ़ है।

[दो]

विवाह के नाम से आज कल के एक विशेष अवस्था और एक श्रेणी के लड़कों के भड़कने की प्रथा है, ठीक उसी भाव से बिगड़कर गोपाल मैं एक निश्चय कर डाला था। जंगली हिरन को फंसाने में जैसी कठिनाइयां सामने आती हैं, उनसे भी कहीं अधिक परेशानी का सामना उसके घर-वालों को करना पड़ा था। लेकिन कोई यह नहीं जान पाया कि इस अछूती जवानी में ही वैराग्य का यह भाव कहां से आया।

गोपाल मां-बाप का लाडला, दुलारा और जिद्दी लड़का था। उसके मुंह से जो निकल जाता, वही उस घर का कानून था। किसी में इतनी क्षमता न थी जो उसका विरोध करे। उसकी जिद का कानून बने से वह विद्रोह का झण्डा खड़ा कर देता था। उसकी जिद पर घर के किसी आदमी

हुआ बन्द था। वह किसे पुकारे चुपचाप खड़े-खड़े सोचमें मग्न। ऐसे असमञ्जस में वह पहले कभी न पड़ा था, संकोची स्वभाव का बेचारा गोपाल उसे इस प्रकार कुछ ही मिनट बीते होंगे कि हंसमुख और एक बारह-तेरह साल की लड़की बाहर झांककर निस्संकोच भाव से बोली आइये, भीतर आइये। दादा ने आपको भेज ही दिया। मां की तबियत तो अब अच्छी है।

गोपाल कठपुतली की तरह उसके आगे आगे हो लिया। उसके मुँह से एक भी शब्द न निकल सका।

लड़की ने घर के बरामदे में पहुँचते ही कहा—मां, लो रामू दादा आ पहुंचे हैं। मैंने कहा था न कि वे सुनते ही चल दिये होंगे।

गोपाल मन ही मन संकुचित हो गया। उसने धीरे से कहा—रामू, रामू को छुट्टी न थी। एक जरूरी काम आ पड़ा था। इसलिये मुझे भेज दिया है। मेरा नाम गोपाल है। वे परसों प्रातःकाल आ सकेंगे।

संध्या की धुंधली छाया में लड़की पहचान न सकी थी। जब उसने गोपाल का अपरिचित कण्ठ-स्वर सुना तब एक बार चकित भाव से उसकी ओर देखा, और शर्माकर एक ओर भाग गई।

बसन्त की मां ने गोपाल को अपने बिस्तर के पास ही कुर्सी पर बिठाकर बातचीत शुरू की। थोड़ी देर में पुकारा—हेमा चल तो क्या करती है?—पर हेमा का कहीं पता न था। वह किसी किवाड़ के पीछे छिपी हुई, अपनी मूर्खता पर लज्जा से गड़ी जा रही थी।

एक लहर है, वह अंधेरे में भी उजाला कर सकती है।—मैं बंकिम-बाबू की 'देवी चौधरानी' से भी ऊँचा चरित्र की उससे तुलना किया करता हूँ। देवी में जो कमजोरी थी वैसा उससे दूर है। मैंने दोनों को 'आनन्दमठ' और 'देवी चौधरानी' में से चुना था। उनकी दुर्बलताओं को मैं तुम लोगों में नहीं पाता था। लेकिन खैर, अब भी मैं आशा करता हूँ, यदि वह कभी पूरा हो सके।—एक निश्वास लेकर रामू चुप हो गया।

गोपाल चुपचाप अपराधी की भांति रामू की बातें सुनता रहा। एक बार वह इतना उत्तेजित हो उठा कि फिर से कोई प्रतिज्ञा कर डाले, पर कुछ सोचकर चुप रह गया। उसने रामू से केवल इतना कहा—मेरे नौकर को साथ लेते जाओ। आज मुझे कुछ काम नहीं है, कल अपनी योजना भेज देना। पढ़कर देखूँगा। मुझे तो अभी तक यह शेखचिल्ली का स्वप्न प्रतीत होती है। फिर भी देखूँ तुममें क्या करामात भी है।

साथ रहकर भी साथी की योजना का पता गोपाल को न था। वास्तव में रामू की विलक्षण क्षमता का पता उसके घर के लोगों को भी नहीं था। उसकी बुद्धि का यथार्थ परिचय केवल दो व्यक्तियों को विशेष रूप से था। उनमें एक पृथ्वी के दूसरे सिरे पर बैठा था, और वह था बसन्तकुमार। रामू में मौलिकता और विलक्षणता का अंकुर उत्पन्न करने वाला वही था। रामू की *उत्तम* गति-विधि का रत्ती-रत्ती हाल सात समुद्र पार उसकी डायरी में नोट होता था। दूसरी थी देवा। उसके जीवन पर रामू और बसन्तकुमार दोनों की शिक्षा का प्रभाव था। रामू तो सदा से ही उसका शिक्षक बनकर रहा था।

योजना। पढ़कर गोपाल ने आज पहले पहल अनुभव किया कि जिसकी ओर अज्ञात रूप से वह खिंच जाया करता था वही वास्तव में सच्चा आकर्षण है। उसने नेताओं के भाषण सुने थे पत्रों की विवेचनाएं पढ़ी थीं, कौंसिल के विवादों पर विचार किया था पर ऐसी युक्ति-पूर्ण ऐसी काम करने लायक योजना कभी उसकी दृष्टि में न पड़ी थी। एक छोटी सी योजना में समस्त सुधार केन्द्रित थे। सर्वतोमुखी क्रांति का आयोजन बड़े सुन्दर और सरल ढङ्ग से किया गया था। उसमें सभी तरह के स्वराज्य की व्यवस्था थी। समाज का कौन पुरजा ढीला है, राष्ट्र की शृंखला कहाँ पर शिथिल है, व्यक्तियों के अधिकार की रक्षा कहाँ कहाँ होती है, इसकी विवेचना थी, तथा एक दम चारों ओर से क्रांति करके सब प्रकार की विशृङ्खलताओं का अस्तित्व नष्ट करने के लिए दो दलों के संगठन की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। एक था युवक-दल और दूसरा युवती-दल। दोनों के अलग कर्तव्य थे, दलों के अलग अलग मार्ग। जाति, राष्ट्र और समाज की हर एक समस्या हल करने का यत्न किया गया था।

विषय की गम्भीरता के कारण गोपाल पूर्णतया उसे समझ तो न सका, पर उससे वह प्रभावित बहुत अधिक हुआ। वह सारे दिन उसकी आलोचना में ही लगा रहा।

[सात]

चार साल बाद। बसन्तकुमार घर आ रहा था। मित्रों, साथियों स्नेह सम्बन्धियों सब में हर्ष की लहर उमड़ रही थी। मातृभूमि पर पैर

रखते ही पुलिस ने उसका स्वागत किया और वह हिरासत में ले लिया गया। उसी दिन समस्त देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक गिरफ्तारियों और तलाशियों की धूम मच गई। प्रधान प्रधान नगरों और कस्बों में हर जगह षड्यन्त्र की दुर्गन्धि का पता शासकों को मिलने लगा। साम्राज्यवाद के विरोधियों को लाम लाम कर पकड़ लिया गया। युवक दल का नेता *रामू भी गिरफ्तार हो गया। समाचार पत्रों में एक सनसनी फैल गई।*

देश में जब यह कायद हो रहा था, तब गोपाल के घर में ब्याह की योजनाएँ हो रही थीं। उसके माता-पिता को सूचना मिल चुकी थी हेमा का भाई आ रहा है। वही उसका सम्बन्ध करेगा, पर गोपाल इन दिनों एक नई ही दिशा की तरफ जा रहा था। बसन्तकुमार की गिरफ्तारी से उसे कुछ सन्तोष ही हुआ पर उसके घर में तो शोक-सा छा गया।

षड्यन्त्र केस अदालत में सुना जा रहा था। देश के कोने-कोने में *गुप्तचर विभाग के कुशल कर्मचारी उसके सर्वस्व-सूत्र का पता लगा रहे थे।* सभ्य और शिक्षित युवक जेल की कोठियों में बन्द थे। गोपाल रामू की योजना का बड़े मनोयोग से अध्ययन कर रहा था। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा था कि रामू के कार्य का सारा भार उसी के कन्धों पर आ पड़ा है।

उसने एक बार फिर अपने घर में आजीवन अविवाहित रहने की बात कहकर उथल-पुथल मचा दी।

षड्यन्त्र के मामले ने भीषण रूप धारण किया। हजारों की संख्या में गवाहों की सूची पेश की गई। सारे देश में असन्तोष की एक चिनगारी पड़ गई, पर गोपाल चुपचाप अपने कार्य में लगा रहा। तीन महीने में

उसने पूरी तरह से उसका अध्ययन कर लिया। कार्य आरम्भ करने से पूर्व उसने एक बार रामू से परामर्श करने के लिए जेल में मुलाक़ात की।

गोपाल रामू, बसन्तकुमार तथा षड्यन्त्र केस के अन्य अभियुक्तों से मिला उस समय हेमा भी वहीं आई हुई थी। गोपाल कार्य आरम्भ करने के लिए परामर्श करने आया था, पर हेमा आई थी अपने कार्य की सफलता की सूचना देने। उसने उसी दिन से कार्य आरम्भ कर दिया था, जिस दिन देश में *गिरफ्तारियाँ* हुई थी। वह घरों के अन्दर, समाज और राष्ट्र की जन्मदात्री देवियों में जागृति और क्रान्ति के बीज बोती थी। इन थोड़े ही दिनों में उसने स्त्रियों का एक बड़ा दल तैयार कर लिया था। गाँव-गाँव और घर घर उसका सन्देश पहुँच चुका था।

गोपाल और हेमा दोनों को अपने समीप पाकर रामू का हृदय फूल उठा। उसकी आँखों में हर्ष और विजय के आंसू उमड़ आये। उसने कंठ-स्वर को सावधानी से संभालकर कहा—वास्तव में अब तुम दोनों के जीवन की धारा एक होने जा रही है। मेरी आशा आज एक प्रकार से पूर्ण हो गई।

गोपाल और हेमा दोनों ने चुपचाप सिर झुका लिया।

चलते समय बसन्तकुमार ने कहा—बहन और भाइयों के सहयोग से जो मयन होता है, उसी में कुछ सामर्थ्य होती है। भाई गोपाल! मैं तुम्हें अपनी यह बहन दे रहा हूँ।

रामू ने गर्व से पुलकित होकर कहा—बहन हेमा! मैं तुम्हें भाई दे रहा हूँ। मेरा विश्वास है, अनाथ देश और असहाय राष्ट्र तुम दोनों

से सनाथ हो जायगा।

इस प्रकार अयाचित आशीर्वाद लेकर रमा और गोपाल लौट आये। तब से दोनों एक दूसरे को सहायता और परामर्श देकर देश के कोने-कोने में युवक और युवतियों का दल संगठित कर रहे हैं। यद्यपि अभी गोपाल और रमा को कोई नहीं जानता पर यह निश्चित है कि शीघ्र ही निकट भविष्य में, क्रांति की यह आंधी चलेगी, जब सभी कुछ उलट पलट हो जायगा और सब लोग उन्हें जान जायेंगे। कौन कह सकता है कि तब उनका सम्मान देवताओं के तुल्य न होगा।

प्रतिज्ञा

पहला दृश्य

[भीमसिंह और अमरसिंह]

भीमसिंह—भाई अमर! जाकर देखो तो कौन बाहर मेरा जयजयकार कर रहा है।

अमरसिंह—जो आज्ञा।

भीमसिंह—देखो, कोई याचक निराश न हो, कोई आश्रित अरक्षित न रहने पावे। अभी जाकर सब प्रबन्ध अच्छी तरह कर देना।

अमरसिंह—जो आज्ञा, पर महाराज के द्वार पर तो कोई पुकार नहीं रहा है।

भीमसिंह—तो मेरे कानों में यह ध्वनि कहाँ से आ रही है? क्या इन्हें भी कुछ भ्रम सुनने की आदत हो गयी?

अमरसिंह—महाराज आवाज तो आ रही है, पर आपके के लिए नहीं, मेवाड़ के युवराज के लिए। बाहर की प्रजा युवराज के दर्शनार्थ पधारी है।

भीमसिंह—मेवाड़ के युवराज के दर्शनार्थ! मेवाड़ का युवराज कौन

प्रतिज्ञा

पहला दृश्य

[भीमसिंह और अमरसिंह]

भीमसिंह—भाई अमर! जाकर देखो तो कौन बाहर मेरा जयजयकार कर रहा है?

अमरसिंह—जो आज्ञा।

भीमसिंह—देखो, कोई याचक निराश न हो, कोई आश्रित अरक्षित न रहने पावे। अभी जाकर सब प्रबन्ध अच्छी तरह कर देना।

अमरसिंह—जो आज्ञा, पर महाराज के द्वार पर तो कोई पुकार नहीं रहा है।

भीमसिंह—तो मेरे कानों में यह ध्वनि कहाँ से आ रही है? क्या तुम्हें भी कुछ कम सुनने की आदत हो गयी?

अमरसिंह—महाराज आवाज तो आ रही है, पर आपके के लिए नहीं, मेवाड़ के युवराज के लिए। बाहर की प्रजा युवराज के दर्शनार्थ पधारी है।

भीमसिंह—मेवाड़ के युवराज के दर्शनार्थ! मेवाड़ का युवराज कौन

से सनाथ हो जायगा।

इस प्रकार अयाचित आशीर्वाद लेकर हेमा और गोपाल लौट आये। तब से दोनों एक दूसरे को सहायता और परामर्श देकर देश के कोने कोने में युवक और युवतियों का दल संगठित कर रहे हैं। यद्यपि अभी गोपाल और हेमा को कोई नहीं जानता पर यह निश्चित है कि शीघ्र ही निकट भविष्य में, क्रांति की वह आंधी चलेगी, जब सभी कुछ उलट-पलट हो जायगा और सब लोग उन्हें जान जायेंगे। कौन कह सकता है कि तब उनका सम्मान देवताओं के तुल्य न होगा!

प्रतिज्ञा

पहला दृश्य

[भीमसिंह और अमरसिंह]

भीमसिंह—भाई अमर! जाकर देखो तो कौन बाहर मेरा जयजयकार कर रहा है।

अमरसिंह—जो आज्ञा।

भीमसिंह—देखो, कोई याचक निराश न हो, कोई आश्रित अरक्षित न रहने पावे। अभी जाकर सब प्रबन्ध अच्छी तरह कर देना।

अमरसिंह—जो आज्ञा, पर महाराज के द्वार पर तो कोई पुकार नहीं रहा है।

भीमसिंह—तो मेरे कानों में यह ध्वनि कहाँ से आ रही है? क्या तुम्हें भी कुछ कम सुनने की आदत हो गयी?

अमरसिंह—महाराज आवाज तो आ रही है, पर आपके के लिए नहीं, मेवाड़ के युवराज के लिए। बाहर की प्रजा युवराज के दर्शनार्थ पधारी है।

भीमसिंह—मेवाड़ के युवराज के दर्शनार्थ! मेवाड़ का युवराज कोई

दूसरा है !

अमरसिंह—श्रीमन् ! मैं तो आपके चरणों की रज हूँ ! भला, मैं कब ऐसी धृष्टता कर सकता हूँ, पर इतना निवेदन करूँगा कि श्रीमान् के द्वार पर कार्ड नहीं है। आप ही मेवाड़ के मुकुटमणि उसके गौरव-चिह्न, और एक मात्र भावी शासक हैं, किन्तु—

भीमसिंह—किन्तु क्या ! अमर, तुम निःसंकोच होकर कह क्यों नहीं डालते ! मेरे यह कान मोम के बने हुए नहीं हैं। मेरी यह भुजाएँ छुई-मुई की टहनियाँ नहीं हैं। मेरा हृदय द्रव पदार्थ से निर्मित नहीं है। वे बड़े से बड़े आघात को सह सकते हैं। वे किसी प्रकार विचलित होनेवाले नहीं हैं।

अमरसिंह—श्रीमन्, आप मेवाड़ के पूज्य महाराणा के पवित्र वंश के उत्तराधिकारी हैं, किन्तु महाराणा ने आपका वह अधिकार जयसिंह को दे दिया है। जन्ममुहूर्त पर युवराज के बाहुमूल में जो अमर दूब बाँधी जाती है, वह महाराणा ने आपके न बाँधकर जयसिंह के बाँधी थी। उनका वह भेद-भाव ही आज मेवाड़ के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न कर रहा है। यही नहीं जयसिंह ने भी अपने आपको मेवाड़ का युवराज समझ लिया है।

भीमसिंह—तो भीमसिंह उसकी उस समझ को कुचल डालेगा। महाराणा ने मेरे साथ अन्याय किया है, मेवाड़ की प्रजा द्वारा अनुमोदित नियम का पराभव किया है और इससे भी अधिक धर्म-शास्त्र की पवित्र मर्यादा का उल्लंघन किया है, उसका बदला मैं अपनी

इस तरह से झुका दूंगा। महाराणा को तनिक देर में पता लग जायगा कि उनके देने से कोई राज्य नहीं पा सकता, और न वे किसी का अधिकार ही मार सकते हैं। उन्हें शासन का अधिकार है, किन्तु अनियम शासन का नहीं। जयसिंह के सुख-स्वप्न को मैं एक ही बार में काफूर कर दूंगा। जिस युवराज शब्द को सुनकर अभी उसका हृदय आनन्द से उछल पड़ता है, तनिक सी देर में उसे ही सुनकर विकंपित होने लगेगा।

अमरसिंह—युवराज, आपकी वीरता की प्रशंसा शत्रु भी करते हैं। आप वीर शिरोमणि हैं, पर इस तरह प्रकाश्य रूप से विरोध करना उचित नहीं। आपको यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस कार्य का उपक्रम आपके जन्म मुहूर्त में किया गया था, वह आज हर प्रकार से सुसङ्गठित कर लिया गया है। न महाराणा, न जयसिंह कभी इस बात को भूले हैं कि एक दिन आने वाला है, जब आपका विरोध खुले हाथों करना पड़ेगा।

भीमसिंह—यह सब कुछ जानकर भी मैं अनजान ही रहना चाहता हूं। मुझे अपने बाहु बल का भरोसा है। मुझे धर्म पर श्रद्धा है। मुझे मेवाड़ के राजकुल की मर्यादा-रक्षा का अभिमान है। देखना, न्याय का क्या हो जाता है।

अमरसिंह—भीमम, मुझे भी विश्वास है कि आप सब तरह से धन्य हैं। धर्म आपके साथ है। मेवाड़ की प्रजा आपको चाहती है किन्तु उधर भी आपके समस्त प्रयत्नों को कुण्ठित करने के लिए

निरन्तर प्रसन्न हो रहा है। यह जयघोष जो आप सुन रहे हैं, वह इसीलिए है कि आप अपने को अधिकार से अपने आप ही च्युत समझने लगें। आपकी प्रचण्ड शक्ति दब जाय, तथा प्रजा के हृदय में भी आपके अनुत्तराधिकारी की बात जम जाय। किसी तरह का कोई विरोध न रहे।

भीमसिंह—बस अमर! बस करो। मेरी तलवार म्यान से निकल भागना चाहती है। मेरे नेत्र जले जा रहे हैं। अन्तःकरण फुँका जा रहा है। मैं अभी इस अग्नि-कुण्ड में जयसिंह को डालना नहीं चाहता। उसे धीरे-धीरे जलाने में ही आनन्द है।

(पट परिवर्तन)

दूसरा दृश्य

(भीमसिंह और महाराणा का दूत)

भीमसिंह—समझ में नहीं आता, आज यह कैसी नई बात हुई! ऐसा महाराणा का मुझ से कौन काम आ पड़ा!

दूत— अन्नदाता! इसका उत्तर तो मैं नहीं दे सकता। मैं केवल महाराणा का सन्देश मात्र जानता हूँ।

भीमसिंह—मालूम पड़ता है प्रिय पुत्र जयसिंह को युवराज घोषित करके महाराणा जी ने मुझे उसका दास बनाना सोचा है। मैं ऐसे अपमान को कदापि नहीं सह सकता। भीम अपने प्राणों को मान के साथ, खुशी से, त्याग सकता है परन्तु अपनी स्वाधीनता

[प्रतिज्ञा

को अपमान के हाथों नहीं बेच सकता।

सुर— महाराज!

भीम— जब तक मेरी कलाई में तलवार पकड़ने की शक्ति है, जब तक मेरे अन्तःकरण में बल है, जब तक स्वतन्त्रता देवी के प्रति मुझमें श्रद्धा भावना विद्यमान है और जब तक मैं संसार में अपनी नाक बचाने की क्षमता रखता हूँ, तब तक दासता का बन्धन स्वीकार नहीं करता। मनुष्यों की बात ही क्या भीमसिंह अपनी मान रक्षा के लिए यमराज से युद्ध करने में पीछे नहीं है।

सुर— सब सहते हैं सरकार, किन्तु—

भीमसिंह— इसलिए मैं राणा जी के पास कदापि न जाऊंगा। जाओ, कह देना कि भीमसिंह आपके सामने आने में असमर्थ है। उसे अपने अपमान का सबसे अधिक ध्यान है।

सुर— जो आज्ञा महाराज।

[प्रस्थान

भीमसिंह—यदि मैं चला जाऊं तो इसमें हानि भी क्या है। इसमें भय या संकोच का तो कोई कारण नहीं है। इस समय चलकर यह देख लेने का भी अच्छा अवसर है कि महाराणा जी क्या कहते हैं। आज मैं अवश्य दो-दो बातें कर लूंगा।

(पट परिवर्तन)

तीसरा दृश्य

(महाराणा राजसिंह और भीमसिंह)

भीम—हैं! यह मैं क्या देख रहा हूं। आज महाराणा जी के चहरे पर कैसी

चिन्ता छा रही है। मालूम पड़ता है, मुझे देखकर यह एक नया माया-जाल बिछाया जा रहा है, पर भीम तो इसमें अतीव सतर्क है। उसके ऊपर ऐसा जादू कभी काम नहीं कर सकता।

महाराणा—प्रिय वत्स भीम—

भीम—(चकित भाव से) कहिये पिताजी।

महाराणा—बेटा! मैंने घोर रूप से तेरे साथ बहुत बड़ा अन्याय किया है। उसे याद करके आज मेरी आत्मा बहुत दुखी है।

भीमसिंह—(आँख भर कर) पिता जी—

महाराणा—तुम्हारे न्यायानुमोदित अधिकार पर जो मैंने हस्तक्षेप किया है उसके लिए मुझे नितान्त खेद है। मैं अपनी भूल आज समझ रहा हूँ। बस, मुझे उसके लिए महान पश्चाताप है। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कल ही मैं तुम्हारा वह अधिकार तुम्हें सौंप दूँगा।—किन्तु एक बात बड़ी कठिन उपस्थित हो गयी है। मेरी भूल के ही कारण भयङ्कर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। जयसिंह का जिस वस्तु पर कोई अधिकार नहीं है, वह उसे अपनी समझ बैठा है। अब यदि एकाएक उसे उससे वंचित कर दिया जाय तो अवश्य ही वह भीषण तूफान खड़ा कर देगा। यही बात मेरे हृदय में शूल की तरह खटकती है कि इस भयङ्कर काण्ड में कहीं हजारों-लाखों के खून की नदी न बह जायगी। इसलिए बेटा भीम! मेरी समझ में सब से अधिक और सबसे सुन्दर बात यही है कि तुम मेरी यह तलवार लेकर जाओ और जयसिंह का काम

तमाम कर दो। एक के मरने से लाखों का खून बच जायगा। जाओ देर। इसमें सोच-विचार न करो। मैं तुम्हें खुशी से आज्ञा देता हूं।—विश्वास करो, इसमें कोई दोष नहीं है। यह तो तुम्हारा शास्त्र-सम्मत अधिकार है। लो, यह तलवार और अभी चले जाओ।

भीमसिंह—पिता जी! आप यह क्या कहते हैं? जयसिंह तो मेरा भाई है!

महाराणा—यह सब ठीक है, पर अपने अधिकार के आगे तुम्हें किसी तरह का संकोच नहीं करना चाहिये।

भीमसिंह—नहीं पिता जी! मुझे ऐसे राज्य की चाह नहीं है। मैं भाई जयसिंह के प्राणों के मूल्य का राज्य कभी स्वीकार नहीं कर सकता। हम दोनों तो सदा से ही एक प्राण दो देह रहे हैं। मैं अपने और जयसिंह में आज भी कोई अन्तर नहीं समझता। वह भले ही मेरे प्रति कुभावना रखता हो।—पिता जी! मेरा तो विश्वास है कि इस क्षणभंगुर संसार में पवित्र और अमर कोई कुछ है तो केवल भ्रातृ प्रेम। उसी से आज जयसिंह दूर हो रहा है। अज्ञानवश उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। वह यह नहीं जानता कि लड़ाई से कभी किसी का भला नहीं हुआ है। पवित्र भ्रातृ-प्रेम से आज उसका हृदय रिक्त हो गया है।—मैं तो कहता हूं कि यदि प्रेम से जयसिंह चाहे तो मैं अपना सिर तक उसे दे सकता हूं। यह राज्य, जो थोड़े से पुरुषार्थ से बनाया बिगाड़ा जा सकता है, तुच्छातितुच्छ वस्तु है। आपने

मुझे राज्य दिया, मैंने उसे सिर आँखों पर स्वीकार किया पर मैं फिर उसे अपनी ओर से सहर्ष अपने अनुज अजसिंह को प्रदान करता हूँ। परमात्मा करे, वह अपने पूर्व-पुरुषों की ही योग्यता से उसका शासन करने में समर्थ हो। पिताजी! मैं आपके चरण छूकर यह बातें कहता हूँ इसमें कुछ भी अन्यथा न होगा। मैं समझता हूँ यहां रहने से कदाचित् कभी मेरे मन में राज्य-लोभ की फिर इच्छा उत्पन्न हो, इसलिए मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजीवन मेवाड़ राज्य में जल ग्रहण न करूंगा।—पिता जी! आप आशीर्वाद दीजिये कि आपका भीम अपने वचन पालन में समर्थ हो। और अब मेरा सदा के लिए प्रणाम स्वीकार कीजिये।—

(पट परिवर्तन) [प्रस्थान

चौथा दृश्य

[भीमसिंह और पनेरी]

भीमसिंह—आज ही नहीं मैं जब-जब इस पहाड़ी पर आता हूँ तो मन का कष्ट सहसा घटा है।

पनेरी— महाराज! यह ढुनारी-पहाड़ी अवश्य ही मेवाड़ राज्य का वह भूखण्ड है, जहां भगवान अंशुमाली की किरणें अपनी पूर्ण उष्मा से पड़ती हैं। मालूम पड़ता है इसे अभिनव बनाने का

कार्य प्राकृतिक प्रयोग बहुत काल से किया जा रहा है, और
और इसी कारण यहाँ सदैव जल की कमी रहती है।

भीमसिंह—कुछ भी हो, आज का यह भयङ्कर उत्ताप सदा से दुर्धर्ष है। ऐसा कष्ट तो यहाँ पहले कभी भी नहीं हुआ था। कहीं हम लोग मार्ग तो नहीं भूल गये हैं। अब तो, प्यास के कारण मेरा गला पूरी तरह सूखा जा रहा है। मुझे विश्वास हो गया है कि पहाड़ी से सुरक्षित निकल जाना अब बिल्कुल असम्भव है।

चेतो— महाराज! जल मुश्किल हो सकता है, पर असम्भव नहीं। मैं प्राणों के मोल भी आपके लिए जल लाने का प्रयत्न करूंगा।

भीमसिंह—तुम्हारा साहस और तुम्हारी भक्ति सराहनीय है। मैं तुम्हारी इस भक्ति के लिये हृदय से कृतज्ञ हूँ पर मैं देखता हूं कि तुम्हारे जल लाने तक तीन बार मेरे प्राण निकल जायेंगे। इसलिए अब कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। मैं प्रयत्न करता हूं कि जितनी ही दूर निकलकर मरूं उतना ही अच्छा।

चेतो— नहीं महाराज! मुझे कुछ भी कष्ट नहीं होगा। मैं जानता हूँ, यहाँ से थोड़ी ही दूर पर जल मिल जायेगा। आप इस शिला की छाँह में थोड़ी देर विश्राम करें, मैं अभी जाकर ले आता हूँ। इससे बढ़कर मेरे लिए और क्या सौभाग्य होगा कि मुझसे निरर्थक प्राणी भी आप की थोड़ी सी सेवा का अवसर पा सकें।

[प्रस्थान

भीमसिंह—कौन जानता था परमात्मा के राज्य में मेरा पौरुष इतना हार

हीन, इतना क्षुद्र और इतना नगण्य है कि एक कटोरा जल के लिए भी मैं पराजित हो सकता हूँ। मुझमें इतनी शक्ति नहीं है, मैं ऐसा पुरुषत्व हीन हो गया हूँ कि अपने बाहु-बल से अर्जन करके अपनी प्यास भी नहीं बुझा सकता। ये पहाड़ की नग्न शिलाएँ किसलिए उठ-उठकर मेरा उपहास कर रही हैं। यह उड़ती हुई रेत किस तरह पीछे से उड़कर मुझे तिनके की तरह ठेलना चाहती है। क्या सचमुच मैं इतना भाररूप हो गया हूँ कि मेवाड़ की वसुन्धरा का प्रत्येक कण आज मुझे बाहर निकल जाने का आदेश दे रहा है।—बिल्कुल ठीक है, इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है। अब मेवाड़ पर मेरा अधिकार ही क्या। मैं किसलिए इस पवित्र भूमि को अपने पैरों के नीचे कुचल रहा हूँ। वसुधे! तुम्हारी सहन शीलता को धन्य है! एक अनधिकारी के पदाघात को भी तुम उसी प्रकार सह लेती हो, जिस प्रकार माता बच्चे की मार को। पर मैं ऐसा नीच नहीं हूँ मुझे ध्यान है मैं यहाँ अब एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। मेवाड़ राज्य में जल पीने का मेरा समस्त अधिकार दूसरे के हाथ में चला गया है। मैं तो यहाँ उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता।

[वनदेवी का प्रवेश

वनदेवी— ठहरो, इस तरह विचलित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। राजकुमार! जब तुम्हारे मन में किसी तरह का कुविचार नहीं है

तो जल पीकर प्राणों की रक्षा कर लेने में तुम्हारे गौरव को किसी प्रकार हानि न होगी।

भीमसिंह—नहीं देवि ! क्षमा करना। भीमसिंह की प्रतिज्ञा किसी अपवाद के साथ खड़ी नहीं हो सकती। वे प्राण निकल सकते हैं, किन्तु मवाड़ की भूमि की किसी वस्तु को मैं ग्रहण नहीं कर सकता।

वनदेवी— राजकुमार ! यह तुम्हारा भोलापन है। यह पवित्र और अनुकरणीय है किन्तु सत्य नहीं। एक घूँट जल पीकर तुम अपने प्राणों की रक्षा सहज में कर सकते हो तथा जीवित रहने पर और भी ऐसी कई प्रतिज्ञाओं का निर्वाह कर सकते हो। इसके अतिरिक्त इस निर्मुक्त नीलाकाश के नीचे इस स्वच्छन्द वायुमण्डल में आन्दोलित, इन उन्नत शिखरों से परिवेष्टित और इस विपिनविहारी शिला-खण्डों में संचित एवं सुरक्षित जल पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है। न इसे कोई किसी को दे सकता है, न इसे बाँध सकता है। यह सृष्टि तत्वों का प्रवाह अनादि काल से मुक्त और बन्धन रहित है। इसलिए मेरा कहना मानो और अपने बालकोचित हठ को छोड़ दो !

भीमसिंह— देवि ! आपकी उक्ति मुझे मान्य है किन्तु मैं क्या करूँ। मैंने उस वंश में जन्म लिया है, जिसके पूर्व पुरुष महाराज दशरथ, और हरिश्चन्द्र थे। मुझे अपनी बात के लिए तनिक भी संकोच नहीं है। मैंने ऐसा कोई महत्व का कार्य भी नहीं किया है, केवल उन पूज्य पुरुषों के चरण चिन्हों को याद करने में यह

एक कदम भी पालन कर सका हूँ। उसके गौरवास्पद नाम को मैं अपनी दुर्बलता से कलङ्कित नहीं किया चाहता।

कमलदेवी— राजकुमार! मैं तुम्हारी दृढ़ता से परम प्रसन्न हूँ। मैं आशीर्वाद देती हूँ कि तुम आजन्म अपनी इस अनुपम प्रतिज्ञा का अच्छी तरह पालन कर सको। धन्य! तुम्हारा नाम मेवाड़ के ही नहीं वरन् संसार के सर्वस्वत्यागी श्रेष्ठ पुरुषों की श्रेणी में अनन्त काल तक पूजा की सामग्री रहेगा।

[प्रस्थान

भीमसिंह—अब मुझे तुरन्त ही चल देना चाहिये।

[पनेरी का जल लेकर प्रवेश]

पनेरी— महाराज! यह बहुत ही स्वच्छ झरने का शीतल जल है।

भीमसिंह—किन्तु मेवाड़ की भूमि का, जिसके पीने का मुझे अधिकार ही नहीं है।

[जल का पात्र लेकर उलट देते हैं]

पनेरी— (रोकने की चेष्टा के साथ) अरे, नहीं नहीं! यह क्या कर दिया! इस जल का एक एक बूँद जीवन का एक एक बूँद है।

भीमसिंह—(पनेरी की बात पर ध्यान न देकर) आज तक मैं जिस भूमि में आनन्द के साथ रहा हूँ, उसे सादर प्रणाम है। हे मेवाड़ की रत्नगर्भा-मेदिनी! तेरे इस उद्धत भीम को इस जीवन में फिर

[प्रविश

तेरे दर्शन का सौभाग्य न हुआ। किन्तु वह बाहर रहकर भी सदा तेरा, केवल तेरा ही रहेगा।

[पटाक्षेप]

निराशा

झूसी में चन्दू एक मांझी था। उसके घर में स्त्री रेखा कन्या मनकी और लड़के हुक्का को छोड़कर कुछ भी न था। वह दरिद्र बिलकुल दरिद्र था।

त्रिवेणी के संगम पर उसकी एक डोंगी थी—बहुत पुरानी न जाने कब की। सूरज की पहली किरण से भी पहले वह उसका पतवार थामकर उठा लेता और अन्तिम किरण के बाद यथास्थान पहुँचाकर थका हुआ घर पहुँचता। वह उसके परिवार की तमाम दिन की आशाओं का मंगल मुहूर्त होता था। यदि वह न पहुँचता तो मनकी और हुक्का की संचित की हुई लकड़ियाँ वैसी ही पड़ी रह जातीं; रेखा का सोचा हुआ शाक न बनाई हुई मछलियाँ किसी काम न आतीं और इससे भी ज्यादा उन सबकी आशाभरी आत्माएँ चिन्ता और शोक से मुरझा जातीं, पर ऐसा कभी हुआ न था। वह सदा सूरज और चन्द्रमा की तरह ठीक समय पर आ जाता था।

एक दिन सदा की भाँति उषाकालीन तारों की छाँह में उसने

आकर देखा डोंगी स्थान पर न थी। रात ही रात नदी बढ़कर किनारों को छूने लगी थी। डोंगी डूबी या बह गई, इसका पता लगाना असम्भव था। बस, वह प्रवाह की ओर बढ़ गया।

[दो]

उस ग्राम का बन्नू न लौटा। रेखा ननकी और छुटका को लेकर घाम पर गई और लौट आई। वह गाता हुआ कहीं सुनाई न पड़ा। तारे चमके और धीमे हो गये, सूरज निकला और अस्त हो गया, पर किसी में आश्वासन की मुस्कराहट न थी। छुटका का आशा कुसुम मुरझा गया वह ज्वर से कांपने लगा। ननकी की उदर-ज्वाला बढ़ी वह उसमें छटपटाने लगी। रेखा के विशाल हृदय में वह सम्पूर्ण करुण लीला समा गई, वह दस-से मस न हुई। उसने ग्राम की आंच से छुटका की परिचर्या की और गंगा की पवित्र बूंदों से ननकी का संतुष्ट किया।

दूसरा दिन भी बढ़कर रुक गया। शाम हुई—निशीथ आया, पर बन्नू न लौटा। बच्चों की दशा भी न सुधरी। रेखा का चिन्तित, पर उत्सुक हृदय भी बैठ चला। रात अपनी निस्तब्धता को लेकर आई और सूने उजाले को छोड़कर चली गई। द्वारा रेखा दोनों बच्चों को गोद में लेकर पुचकारने लगी।

[तीन]

बन्नू पूरे तीन दिनों तक कछारों में डोंगी की तलाश करता रहा।

पीछा करकर थक गया, पर वह कहीं दिखाई न दी। आगे प्रवाह की अनंत जल-राशि थी और पीछे निर्जन प्रदेश। दोनों तट और उसके साथ जीवन का आधार चला गया।

डोंगी बहुत दूर हो गई, पर उसका चित्र उसकी शून्य दृष्टि के सामने नाच रहा था। उसने जीवन भर इसकी कमाई की। कभी उस कविता के लिए कल्पना नहीं करनी पड़ी थी। फिर भी स्वभाव-जात मानसिक व्यापार ऐसा प्रबल हो उठा कि उसने रेखा की मीठी पुकार सुन ली। बच्चों के वात्सल्य-प्रेम से प्रेरित होकर वह घर की ओर लौट पड़ा।

जैसे जैसे वह आगे चलता था, एक अपरिचित निराशा और वेदना का अपरिमेय भार उसके हृदय को दबा रहा था। विराट विश्व में जीवनयापन के उपायों की कमी नहीं है, पर मन्नू के लिए डोंगी ही सहारा थी। उसके सिवा भी कोई उपाय हो सकता है, यह उस अनभिज्ञ के मस्तिष्क की तरह संशयास्पद था। निराशा के उसी अन्धकार में खाली हाथ, धड़कता हृदय लिए मन्नू ने झोंपड़ी के द्वार के भीतर पैर रखते ही सुना, चिड़ियों की तरह मधुर आवाज में दोनों बच्चे रेखा से रोटी माँग रहे थे और वह पुचकार कर कह रही थी—बापू तुम्हारे लिए मिठाई लायेंगे।

संध्या हो चुकी थी, पर बच्चों ने कहा—माँ अभी तो सूरज चमकता है। उनके आने में बहुत देर है, अम्मा।

सच ! अब सूरज कहाँ है ? वे आ ही गये होंगे—कह कर रेखा ने बच्चों के हृदय में आशा का संचार करना चाहा।

मन्नू ने देखा, उसके पास फूटी कौड़ी भी न थी। वह इस प्रकार मे
ह

विलीन हो गया। मुँह से एक गर्म भाप निकल पड़ी और आँखों से आँसू के दो बूँद। उच्छ्वास हवा में मिल गई और अश्रु-बिन्दु भूमि पर चू पड़े। चन्दू 'कल-कल' उपहास करती—इठलाती—नदी की ओर एकटक देखता रहा। वह पत्थर की मूर्ति बनकर खड़ा रहा। क्षितिज के किनारे नदी की उद्दाम धारा में एक डोंगी सी बही जा रही थी। संध्या के झुटपुटे में वह उसे अपनी ओर बुलाती सी लग रही थी। बेचारा चन्दू परन्तु उसे देख ही सकता था। नदी में कूदकर पकड़ लाने की सामर्थ्य इस समय उसमें न थी।

जवाबी कार्ड

शुक्ल सावन की द्वितीया थी। सरला द्वार की एक-एक सीढ़ी उतरकर बग़ीचे में गई। झूला सघन सुवासित कदम्ब की डाल में पड़ा था। रेशम की चिकनी रस्सी पर सजाकर पटली रस्सी सुन्दर समीर के झोंकों से आप ही झूल रही थी। उसने आकर झूले को पकड़ा पर झूली नहीं, छोड़कर चली गई।

कितने ही सावन उसके जीवन में आ चुके थे। अल्हड़ बचपन की चपलता के दिन, निर्विकार शैशव की अबाध सरलता के दिन—वे घड़ियाँ, वे अमाद प्रमाद और उनकी वह स्मृति। यौवन की मादक गर्वस्मित, रस भरी सलज्ज चितवन ने जीवन के मधुर कौतुक अवगुंठन के अन्दर कभी से छिपा दिये थे। परिणय की मर्यादा ने कुमारी-सुलभ पवित्र चपलता को सीमा के अन्दर खींच लिया था। लेकिन झूले की डोर पकड़ते ही पश्चिम पवन की एक हल्की लहर ने एकबारगी समस्त स्मृतियों को सजीव करके उसके सामने ला दिया।

पिछले सावनों में वह अपनी जिस प्यारी सखी के गले में बाँह

डालकर क्रीड़ा करती थी, वह लीला उसके पास न थी। यौवन का वसन्त उसके लिये एक नया ही संसार लेकर आया था, और उसने प्राचीन परिचित दृश्यों को एकदम स्वप्न की सम्पत्ति बना दिया। लीला उसके चिरजीवन की सहचरी थी, पर आज वह दूर, बहुत दूर जा बैठी है। उन दोनों के बीच कई सौ मील का अन्तर बाधक हो गया है।

विवाह उन दोनों के जीवन में विच्छेद बनकर आया। मेंहदी घोलकर रचाना, रंग बिरंगे चीरों का पहनना उसने लीला के बिना कभी किया ही न था। आदत ही ऐसी पड़ गई थी। बचपन के दिनों की उस चिर-सहचरी की मंजु मधुर याद क्या कभी भूलने की चीज थी!

सरला उसे न भूली थी, और लीला भी उन सुनहरी स्मृतियों को हृदय के एलबम में सावधानी से सजाए हुए थी। सच पूछो तो विच्छेद की राख हटाकर विरह की चिनगारियों की जलन उसी ने पैदा की थी नहीं तो सरला का क्या कुछ ने काम था कि वह अपने मातृहीन मायके के सूने भवन में कलगुंजन करने आती। स्वामी के हंसमुख चेहरे पर उदासी छोड़कर आने का उसे ज़रा भी चाव न था।

अपने पत्रों में लीला ने बार बार लिखा था—'तुम आना, ज़रूर आना। मैं जानती हूँ मैं ऐसा अनुरोध करके किसी के ऊपर बड़ा अत्याचार कर रही हूं उनसे मेरी ओर से कहना, तुम उन्हीं की हो—पूर्णतः उन्हीं की और उन्हीं से सदा अनुरक्त हो। आशा है, वे ऐसे अनुदार न होंगे। जिन्हें मैंने अपने चिरजीवन के सर्वस्व पर पूर्णाधिकार इतनी उदारता से दे दिया है।

'इस साल के वे महीने कैसे बीते हैं, उनकी मीठी-मीठी बातें करने के लिये तुम आना। बहुत कुछ कहना है, बहुत कुछ बताना है और बहुत कुछ सुनना। यह जीवन की तरल धारा न जाने किस समय किस तरफ बदल जाय, फिर कब अवसर मिले—इसलिये मेरी प्यारी सरले! मेरी प्यारी बहना! मेरा अनुरोध मानकर अवश्य आना। मैंने बार-बार यह लिख दिया है। मैं शीघ्र ही पहुँच जाऊँगी। नहीं लिखना। यह मत समझना कि मैं तुम्हारे ही ऊपर अत्याचार कर रही हूँ, मैं स्वयं अपने ऊपर कठोर अत्याचार और निष्ठुर नियन्त्रण करके आना चाहती हूँ—पर इस बार आना अवश्य चाहती हूँ। यहाँ भी लोग कहते हैं, खूब ही। कहते हैं विधाता यदि उनसे सलाह लेते तो उनमें इन बातों में से एक की सृष्टि ही अथवा की होती या नहीं तो कम से कम परिवार और पतिव्रता का तो सूत्रपात न इनमें किया होता। लेकिन मैंने उन्हें मना लिया है, समझा दिया है। तुम्हारे ऊपर किसी के अधिकार की बात पर मैं अभी कह चुकी हूँ यही तुम्हारी तरफ से कह कर उन्हें ठीक किया है। वे समझ गये हैं। अब मनाने की जरूरत नहीं है। उन्हें विश्वास हो गया है कि तुम उनकी चीज पर अधिकार नहीं चाहती हो, उनका डर दूर हो गया है। वे तुम्हारी ईमानदारी में विश्वास करते हैं। पर, अभी एक रुकावट है—माँ नहीं मानतीं। उन्हें मनाना बाकी है। यह काम मैंने अपने पर भाभी पर छोड़ दिया है। वे मान जायेंगी—विश्वास है।'

इस तरह बुलाकर भी शीला खुद न आई, या न आ सकी। उसके पत्र आकर लौट आये। साथ नहीं आयी। सरला के बदल

कमल अन्तःकरण में मर्ममयी दुलक भरी। वह बगीचे से लौट आई। अपरिचित पत्र के प्रभाव से मुस्काकर वह अपने कमरे में आ बैठी और उसी समय लीना के लिये एक पत्र लिखा।

कार्ड दोनों गुम हुए थे। अन्तःकरण की उद्भ्रान्त वेदना के कारण वह कार्डों का भी पृथक न कर सकी। जवाबी ही भेज दिया। सोचा दोनों कार्ड जिस तरह परस्पर मिले हुये हैं उसी तरह वे उसका प्यारी सखी को भी लाकर मिला देंगे। व्यथाकुल हृदय में प्रसन्नता की एक हलकी सी रेखा थोड़ी देर के लिये खिच गई।

[दो]

मातृहीन छोटे भाई कुञ्ज के उत्पातों को सरला चुपचाप सह लेती थी। वह भी अपनी दीदी के सामने अपनी शिकायतों का दफ्तर खोल देता था, अपने एक एक हठ और अनुरोध की रक्षा कर लेता था। कब किस पड़ोस के लड़के के पास कौन सा खिलौना चुपचाप आ गया, कब खाने के किस पदार्थ के लिए उसका मन मचल गया, यह सब सरला दीदी को जानना पड़ता था। और उसके दूर करने का उपाय भी करना पड़ता। हमारे छोटे परमहंस के आश्रम में सरला कामधेनु थी। भाई की सभी इच्छाओं की पूर्ति उसे करनी पड़ती थी।

माँ की मृत्यु के बाद से सरला का इसका अभ्यास भी अच्छी तरह हो गया था। भाई के उपद्रवों में ही उसे एक तरह की तृप्ति होती थी। बगैर उपद्रव और हठ के वह कुञ्ज की कोई बात सुनना नहीं चाहती थी।

इसी से ससुराल में सब सुख और मनोरंजन के सामान होते हुए भी उसका जी एक तरह की उदासी में म्लान रहता था। बराबर अपने छोटे मिट्ठी भाई के लिए उसकी चाह बनी रहती थी। कुंदू जहां दीदी पर इतने अत्याचार करता था वहां उसके काम भी आता था। वह अपनी दीदी की तमाम फरमाइशें बाबू जी से पूरी करा लेता था। अपने लिये बाजार से वह खिलौना लाता था तो दिदिया के लिये भी मीठी खाजी हठ-पूर्वक खरीद लाता था। दीदी के पेड़ों के लिए स्कूल से आने की फिक्र वह अपनी मिठाई से भी ज्यादा रखता था। यही नहीं वह सरला के लिए बगीचे से फूल चुन लाता था। मेंहदी काटने में तो बराबर वह अपनी बहन की सहायता करता था।

सरला की तमाम अलमस्ती डाक का सर्विस भी कुंदू ही था। वह ठीक वक्त पर चिट्ठीरसा की तलाश में इसलिये रहता था कि दीदी की चिट्ठी कहीं बाबूजी की चिट्ठियों में मिलकर पड़ी न रह जाय। कुछ विशेष अवस्था के कारण भी सरला का यह प्रबन्ध बुरा न लगेगा। वह जल्दी से चिट्ठी लेकर बहन के पास पहुंचाता था और उनके उत्तर भी खुद ही लेटरबक्स के हवाले करता था।

आज भी पत्र लिखकर सरला ने कुंदू को दिया और पुचकारकर कहा—मेरे राजा भइया! इसे जल्दी से बम्बे में डाल तो आ।

कुंदू ने चिट्ठी ले लिया, कहा हां, तो दीदी! एक बात है। अच्छा करता हुआ एक नेट बाउ मेरे लिये मंगा देना। श्यामू के बाबू ने उसे लाकर दिया है।

यह कहकर उसने कार्ड पर दृष्टि डाली। देखा, वे दोनों जुड़े हुए हैं। इससे पहले उसने कभी जवाबी-कार्ड नहीं देखा था। वह प्रबल विश्वास रखनेवाला बालक कार्ड अपनी पीठ पीछे छिपाकर लगा दीदी की बड़ी भूल पर खिलखिलाने।

सरला ने पूछा—क्या बात है?

उसने कहा—क्यों बताऊँ? सरला चुप रही तब उसने हँसकर कहा—दीदी तुम्हीं कहो, कहीं बात रह तो नहीं गई?

क्या बात रह गई?—कहकर सरला उसके मुँह की तरफ ताकने लगी।

कुंजू—मैं न बताऊंगा। तुम्हीं बताओ। कार्ड तो तुम्हीं ने लिखा है।

सरला का जी अनमना हो रहा था। भाई की हँसी से कुछ-कुछ रुष्ट होकर उसने जरा डांटकर कहा—लाओ देखें तो।

कुंजू इस तिरछी नजर की तीव्रता को न सह सका। उसने कार्ड सरला के हाथ में देदिया। सरला ने इधर उधर उलटकर देखा। पता पढ़ा, और कहा—बच्चा, दीदी को झूठ ही तंग करते हो, जाओ इस डाक में छोड़ आओ।

पत्र सौंपते समय कुंजू को विश्वास हो गया था कि सरला भूल समझ जायगी, पर जब उसी तरह फिर कार्ड उसे दे दिया गया, तब तो उसे बहन की लापरवाही पर बेहद हँसी आई। उसने कहा—अरे अब भी तुम्हें मालूम न हुआ! यह देखो एक कार्ड बगैर लिखा ही है!

सरला के होठों में हंसी फूट पड़ी। उसने एक बार भाई के फूले गाल पर एक हल्का सा तमाचा लगाकर कहा—धुर पगला, यह जवाबी कार्ड है। यह इसी तरह आता है। जा, मरुस बोलकर छोड़ आ आ।

कु मु ने बरछा सँभालकर और जरा चकित होकर पूछा—कैसा जवाबी! यों ही आजाय क्या!

सरला—हाँ, क्यों नहीं।

कु मु—क्यों!

सरला—पहले दौड़कर डाल आओ। पीछे बताऊंगी। कु मु कार्ड जेब में लेकर भाग गया। उसे लेटरबक्स में छोड़ आया, और जवाबी कार्ड की सारी उपयोगिता दीदी से सुन लेने पर भी उसे विश्वास हो गया हो यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मालूम पड़ता है बड़ी उत्सुकता से वह परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा।

[तीन]

सरला ने तो माँ का मुख कुछ देखा भी था पर लीला की माँ तो उसे प्रसूतिगृह में ही छोड़कर अनन्तधाम को चली गई थी। उसी समय से उसकी चाची ने उसे अपनी सन्तान समझकर बड़ा किया था। उसने चाची के प्यार की माँ के प्यार के साथ तुलना कर उन्हें माँ से भिन्न समझने का मन नहीं किया। लेकिन जब से वह ससुराल आई, और उसने अपनी सौहृदशीला सास का प्यार पाया, तब से उसे अपने गत जीवन की अपूर्णता का अच्छी तरह ज्ञान हो गया।

प्रेम के इस नन्दननिकुंज में आकर वह ऐसी रम गई कि उसे घर की याद ही न आती थी। अपने घर को वह किसी नाते कभी याद कर लेती थी, तो वह सरला का नाता था। उसी को देखकर जहां उसने अपने दुःख-सुख की थोड़ी बहुत तीव्रता अनेक बार कम की थी, वही सरला कभी-कभी उसे बीते दिनों की याद दिला देती थी। इसके अतिरिक्त इन थोड़े ही दिनों में वह एक नये ही संसार में पहुँच गई थी, यहां की अनेक विशेषताओं को लेकर किसी के हृदय में उंडेल देने के लिये उसका जी आतुर हो उठा था। इसी से दादा आने पर उसकी सास ने नहीं भेजा तो उसका जी कुछ कुछ उदास हो गया, पर दो ही चार दिन में वह फिर स्वस्थ हो गई।

एकाएक सरला का पत्र मिला। लीला ने उसकी एक एक पंक्ति ध्यान से पढ़ी। उसका कोमल अन्तःकरण खुशी और गर्व से छलक उठा। वह आँसुओं के आवेग को रोक न सकी।

सास ने आकर पूछा—बहू किसी ने कुछ कहा है?

लीला ने घर जाने की अपनी इच्छा बता दी। आज्ञा मिल गई। लीला के स्वामी को ही उसे मायके तक पहुंचाने का भार दिया गया।

जिन बातों का पृथक करते समय सरला ने मर्म-वेदना अनुभव की थी उन्हें लीला ने हँसते हँसते पृथक कर दिया, और उमंग के साथ लिखा—तुम्हारे जादू ने सबको मोहित कर दिया है। मन्त्रमुग्ध तुम्हारी इच्छा का अनुसरण करने को विवश हैं। शेष मिलने पर।

[चार]

कुंजू ने जब से वह कार्ड पाया था तब से बराबर पोस्टमैन की प्रतीक्षा करता था। पढ़ा लिखा न था, उम्र भी पढ़ने लिखने की न थी—पर था बड़ा समझदार। उसमें सीखने की प्रबल इच्छा थी, और पढ़ने की अपूर्व चाह।

वह अपने खेल में व्यस्त था। बाग के फूलों को अपने खिलौनों के पास किस तरह सजाना चाहिये इसी में उस समय उसकी समस्त बुद्धि उलझ रही थी। वह एक-एक फूल चुनकर रख रहा था। अचानक चौंककर उसने मुंह फेरा, देखा, पोस्टमैन खड़ा है पर पोस्टमैन ने उसकी तरफ बिल्कुल ध्यान न देकर द्वारके भीतर एक कार्ड फेंक दिया और चला गया।

कुंजू पोस्टमैन की उपेक्षा पर मन ही मन दुखी तो हुआ, पर उस ओर अधिक ध्यान न देकर उसने कार्ड उठाया और दीदी के पास ले भागा।

सरलो दीदी—कहता हुआ वह ज्यों ही कमरे में पहुँचा तो वह और भी चकित हो गया। उसने देखा—शीला भी तो आ पहुँची है। सरला और शीला गले मिल रही हैं।

उसे इस तरह चकित खड़ा देखकर शीला ने उसकी बांह पकड़कर अपनी गोद में खींच लिया और कहा—आओ भइया कुंजू, अपनी दीदी को भूल गये क्या?

नहीं तो—कहकर कुंजू उसी तरह कौतूहल के भाव से खड़ा

रहा। तब सरला ने लीला से कहा—जो कार्ड तुम्हें इतनी जल्दी ले आया, वह अब तक नहीं—

कुन्नू ने बीच में टोककर कहा—आ तो गया है दीदी, यह रहा। देखो, यही है न !

सरला और लीला दोनों कार्ड लेकर देखने लगीं।

बचपन की इस घटना ने कुन्नू के मासूम हृदय में एक विरवाद पैदा कर दिया, वह उसे बहुत दिनों तक न भुला सका।

बरसें बीत गई हैं, ज़माना बदल गया है। लीला का गुलज़ार संसार अब उजड़ गया है। उसका जीवन इतना सूना हो गया है कि एक भी बात ऐसी नहीं रह गई, जिसके लिये वह अपनी सखी के माथे में सिन्दूर सजाने का उपक्रम करे। वह बेचारी अब विधवा हो गई है। वह उस उपवन की तरह पड़ी रहती है जिसके तमाम फूल चुन लिये गये हों। स्वामी की बहुमूल्य भुजाओं का आश्रय तो गया ही, साथ ही उसकी स्नेहमय हास का सहारा भी चला गया।

सरला भी अब वह भावुक नवयुवती सरला नहीं है। उसके छोटे-छोटे कच्चे बच्चों ने उसकी सारी भावुकता को दूर कर दिया है। हर समय वह उन्हीं के पीछे परेशान रहती है। उसे फुरसत कहां ! लीला के दुर्भाग्य का समाचार सुना, थोड़ी देर मुंह छिपाकर रो लिया—पर फिर अपनी धुन में लग गई।

इतने बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये परन्तु कुन्नू के मन की जवाबी

भाई के प्रति जो भावना कम गई थी वह नहीं बदली है। वह स्वयं बढ़कर कुछ का कुछ नजर आने लगा है पर न जाने क्यों अपने मन में वह इस आत्म-विश्वास नहीं दूर कर पाया।

अब तक कोई बाहर ऐसा मित्र या सम्बन्धी नहीं था जिसे वह स्वयं कुछ लिखता। इधर आप ही आप एक सुयोग उपस्थित हो गया। उसका परम मित्र राधे अपने माता-पिता के साथ एक लम्बी यात्रा को रवाना हुआ। चलते समय कु. सू. ने कहा—देखो, जल्दी आना। नहीं तो मेरा जी कैसे लगेगा?

राधे ने हँसकर कहा—जल्द तो नहीं करूँगा। कुछ देर भी हुई तो बराबर लिखता रहूँगा।

दोनों मित्र जुदा हुए। राधे एक जगह से दूसरी जगह घूमता हुआ अनेक तीर्थों और नगरों में गया। हर स्थान से वह बराबर अपने मित्र सखा को अपने भ्रमण का वृत्तान्त लिख लिख भेजता रहा। उसने अयोध्या से लिख भेजा—तीसरे दिन प्रयाग पहुँचूँगा। श्री कामताप्रसाद के यहाँ बहादुरगंज में ठहरूँगा—दूसरा पत्र वहीं पहुँचकर लिखूँगा।

एक-दो-तीन चार दस दिन हो गये। फिर कोई पत्र कु. सू. को नहीं मिला। बार बार वह राधे की उदासीनता पर खीझ उठता था। कई बार इरादा भी किया कि एक पत्रकार लिख भेजें पर डाक देखते देखते समय निकल गया। वह मन ही मन यह सोच कर और भी अधीर हो उठा कि कहीं कोई बीमार तो नहीं पड़ गया। क्योंकि राधे का स्वास्थ्य सदा से ही

छाया मारा रहा है।

जवाबी-कार्ड भेजने का उसे यह उचित अवसर मिल गया। वी चिन्तित था, व्याकुलता भी थी, वह अपने मन को न रोक सका। फटपट कार्ड लिख कर अपने हाथ से डाकघर में छोड़ आया। इतना करके अपनी संस्कार जन्य श्रद्धा के कारण उसे ऐसा विश्वास सा हो गया कि अब अब उसके मित्र के आने में देर नहीं है।

कई दिन बाद पोस्टमैन को अपनी ओर आते देखकर वह उछल पड़ा। इस बार उपेक्षा से नहीं बड़ी सावधानी से पोस्टमैन ने लाकर पत्र उसके हाथ में दे दिया। कुंज उत्सुकता से पढ़ने लगा, पर सहसा उसके मुंह से आह निकल गई। पत्र किसी अपरिचित के हाथ का लिखा था कि 'राम की डोंगी यमुना में उलट गई। वह डूब गया। उसके मां-बाप किसी तरह निकाल लिये गये, पर वे मरे से बदतर हैं—शोक से पागल हो रहे हैं। ईश्वर की लीला में किसी का हाथ नहीं।'

कुंज पत्र हाथ में लिए आरामकुर्सी पर गिर पड़ा। जान पड़ा मानों उसके हृदय का स्पन्दन और रक्त का प्रवाह एक दम रुक गया हो।

सैनिक

रणभेरी बजते ही युद्ध आरम्भ हो गया। तलवारें खचाखच चलने लगीं। धड़ मुण्डों से पृथ्वी पर गये। स्वतन्त्रता प्रेमी युवकों के कटे हुए मस्तक ठीक अर्द्ध चन्द्र की भांति गिरने लगे। रण-वाद्यों की मधुरता से वीरों के हृदय उछलने लगे। हाथों में जोश आ गया। तलवार की गर्मी तेज हो गई। 'मार मार' की ललकार से मैदान गूंज गया। मुर्दों का ढेर लग गया। धमाधम रक्त से भरी नदी बह निकली।

एक नवयुवक घुड़सवार की रण-कुशलता पर लोग चकित थे। उसने कितने ही वीरों का सफाया कर दिया, कितने ही सवार गिरा दिए और कितने ही पैदल सिपाहियों को यमलोक भेज दिया। देखनेवालों की दृष्टि काम नहीं करती थी। सभी उसकी ओर ताक रहे थे। लगातार युद्ध करते-करते वह कुछ-कुछ थक चला था। उसकी तलवार कुछ-कुछ कुन्द हो गई थी फिर भी उसने घोड़े को ऐड़ लगाई, तो सबमें से अगले योद्धा के पास आ पहुंचा। योद्धा की तलवार अपने प्रतिद्वन्द्वी की गर्दन पर पड़ी ही थी कि इतने में पकड़ लाने की ललकार थी। सैनिक भावों के कारण मस्तिष्क में

घुमा रहा था। जब तक वह सँभले तब तक सरकार के अभाव में उसकी तलवार युवक के गले पर जा पहुँची। सेना में हाहाकार मच गया। सैनिक की तलवार लक्ष्य पर पहुँच चुकी थी, जब उसने उसके वीरोचित भोले और मनोहर रूप को देखा उसने अपना हाथ वहीं रोकने की बहुत कोशिश की, लेकिन तब भी युवक का बख्तर कटकर एक हलका-सा घाव हो ही गया। उसके प्राण बच गए, लेकिन हाथ के धक्के से वह पृथ्वी पर आ रहा। सैनिक ने कूदकर ज्योंही उसकी बागडोर हाथ में पकड़ी, उसने झटककर पीछे हटते हुए कहा—दूर। रमणी का अंग-स्पर्श करने की छूट किसी को नहीं है। हथियार से उसे परास्त करने का प्रयत्न करो। सैनिक उसके वाक्य से अपरिचित-सा वहीं भौंचक्का होकर रह गया। हाथ बढ़ा का बढ़ा रहा। वह शीघ्र घोड़े पर पक्षाग बिजली की तरह उड़ गई।

[दो]

अँधेरा होने से युद्ध बन्द हो गया। सेनाएँ अपने अपने शिविर में विश्राम करने चली गईं, लेकिन सैनिक नहीं, सुनसान रणभूमि में लोथों के ऊपर टहल रहा था। उसका शरीर घावों से जर्जर और खून से लथपथ था, पर इसकी उसे चिन्ता न थी, वह तो केवल उसी वीराङ्गना के लिए व्याकुल था। आखिर सोचता सोचता वह शत्रु-सेना की ओर चल दिया।

रात आ गई थी। सेना दिनभर की थकी-माँदी अचेत पड़ी थी। अच्छा अवसर हाथ लगा। सैनिक एक के बाद दूसरे तम्बू को देखता हुआ सेना के मध्य भाग में विचरने लगा। उसकी आँखें बड़ी देर से

जिसकी खोज में थी, वह उसकी ईप्सा के पास से पहुंच गया था। उसने अपनी आंखों को बार-बार मसलकर इस बात का निश्चय कर लिया कि वह इच्छित व्यक्ति से कोई अन्य नहीं। देर तक खड़े-खड़े अतृप्त नेत्रों से वह उस अनूठे सौन्दर्य को निरखता रहा।

[तीन]

एक गुप्तचर ने, जो सैनिक के पीछे लगाया था, सेनापति को सूचना दी। उसने बहुत थोड़े परिश्रम से देशद्रोही सैनिक को बंदी बना लिया।

युवती खामी ने अपने पिता को आठ-दस सिपाहियों के साथ सैनिक को बांध के जाते देखा। बंदी को कारागार में डाल दिया गया। इस गड़बड़ी से जागे हुए लोग फिर जाकर सो रहे। युवती भी इधर उधर घूमकर थोड़ी देर बाद जाकर पड़ रही और कुछ सोचते-सोचते सो गई।

तीन बजे से ही कोप कांपने लगे। सिपाहियों के उठने की आहट होने लगी। चार बजे सेना सन्नद्ध हो गई। पांच बजे दोनों ओर की वाहिनियां युद्धस्थल में आमने सामने उपस्थित हो गई। युद्ध आरम्भ हुआ और खूब हुआ लेकिन वीरों की आंखें किसी प्रसिद्ध योद्धा की खोज में व्यस्त थीं।

थाम वीरांगना का मोर्चा खाली था यद्यपि उसकी सर्वोत्तम सभी सेना निरन्तर लड़ रही थी। सभी को न जाने क्यों उसकी अनुपस्थिति अखर रही थी। लेकिन लड़ाई बराबर होती रही।

[चार]

युवती सिर-दर्द का बहाना करके लड़ने न गई थी। वह आज सचमुच कुछ अन्यमनस्क और अस्वस्थ दिखलाई पड़ती थी। वह बेचैन हो रही थी। उसका मर्दाना वीर-वेश आज स्त्रियोचित भीरुता और सौकुमार्य से ओत प्रोत दिखाई देता था। रणाङ्गण की चौकड़िया आज उसे याद न थीं, प्रत्युत रमणी-सुलभ हाव भाव ही विशेष रूप से परिलक्षित होते थे। थोड़ी देर बाद उसने छद्म-रूप बदल दिया। अपनी असली वेश-भूषा धारण की। कचों को ऐंठकर बांधा आभूषण सजाए सिन्दूर की बिन्दी लगाई नवीन वस्त्रों से शरीर का अलङ्कृत किया। लोग तो क्या, वह स्वयं ही अपने इस अनुपम लावण्य को देखकर चकित रह गई।

अब—अब वह चल दी। शिविर के बन्दीगृह के द्वार पर पहुँची। पहरेदार ने यथोचित शिष्टता से अभिवादन किया और यह जानकर कि वह बन्दीगृह में प्रवेश करने का विचार रखती है, तुरन्त फाटक खोल दिया। उसने भी बिना कुछ कहे भीतर घुसकर अपने पीछे द्वार, बन्द कर देने का सङ्केत कर दिया। फाटक बन्द हो गया। युवती ने अपने परिचित् बंदी की कोठरी में पहुँचकर आरती जगाई। अन्धकारमयी कोठरी में अचानक प्रकाश देखकर बंदी उठ बैठा और आगे बढ़ते ही दोनों की आँखें मिल गईं। युवती का कलेवर प्रस्वेदमय हो गया और हाथ काँपने लगे। लज्जा के मारे स वह दुबकी दब गई—इतनी विनम्रवदना हो गई कि सारा प्रणय-संवाद विस्मृत हो गया।

भी इस घटना से कम प्रभावित न हुआ। कुछ क्षण के लिए उसके भी होश हवास उड़ गए। जब उसे विश्वास हो गया कि यह उसका दृष्टि विकार नहीं है तो वह बोला—"यदि अनुचित न हो तो क्या आप यह बतलाने का कष्ट करेंगी, कि किन भाग्यशालों का उपहार लेकर आप भूल से यहाँ आ गई हैं, और आप हैं कौन?"

"आप के सिवा और कौन अधिकारी है? भला आप ऐसा क्यों कहते हैं? मैं तो भूली नहीं।" फिर उसने कुछ ठहरकर लजाते हुए कह ही तो दिया, "और मैं वही हूँ।"

"वही कौन?"

"तो क्या मानसिक परिश्रम की आवश्यकता पड़ी? यदि हाँ, तो मैं वही हूँ जिसे कल आपने जीवन-दान दिया था।"

"अच्छा, यदि यह उसी का प्रत्युपकार है तो मैं कहूँगा कि सरासर भूल है। मेरा जीवन नितान्त दुःखमय है, उसमें किसी तरह भी आनन्द करना ही भ्रम है। साथ ही मैं एक अत्यन्त साधारण सैनिक हूँ। युद्ध में उपार्जन की गई प्रत्येक वस्तु का अधिकार सेनापति को है, और मैं तो शत्रु के यहाँ बन्दी हूँ।"

"यह बदला नहीं है। यह तो केवल मनोभावनाओं का समर्थन है आप स्वीकार करें या ठुकरावें जो आपका प्रश्न था वही लेकर आई हूँ। मुझे आपके उपकारस्वरूप होने का भ्रम न था। मुझे आकर्षित करनेवाला आपके वीरोचित गुणों में सहृदयता का लेश ही है, और अब सेनापति

का एक मात्र कन्या के प्रणय-पात्र होकर भी अपने को बन्दी न समझिए।"

उसने बंदी को बन्धनमुक्त कर दिया।

बंदी कृतज्ञता भाव से बोला— मुझे स्वीकार है, परन्तु उसके लिए यह उपयुक्त अवसर नहीं है। समय आने पर सभी कुछ हो सकेगा। पर ध्यान रहे, मैं आपके वीराङ्गना-वेश को ही अधिक मान देता हूँ, और क्या ही अच्छा हो, यदि अब से आपके दर्शन उसी वेश में हुआ करें।

युवती ने स्वीकारात्मक हुंकार के साथ एक मुथाली निकालकर सैनिक को दी और गुप्तमार्ग से निकल जाने का संकेत कर प्रणाम करके फाटक से बाहर हो गई।

[पाँच]

"ठहरो!" सरदार ने कहा।

"नहीं, सेनापति की कन्या एक सरदार की आज्ञा पालन करने के लिए बाध्य नहीं है।" युवती सगर्व उत्तर देकर अपने तम्बू में चली गई।

"ऊँह! एक अपात्र के प्रेम पर फूली हुई है देखूँगा!" कहकर तमतमाए हुए चेहरे से सरदार शीघ्र सेनापति के शिविर में घुस गया।

सेनापति ने उसका आदर सत्कार से स्वागत किया। वे बोले, "सर्वनाश हो गया था, पर तुम्हारी अतुल्य वीरता से समय फिर गया, लाज रह गई। जी में आता है कि अपनी सबसे अमूल्य वस्तु

देकर आज तुम्हारा सत्कार करूं ।"

सरदार ने कृतज्ञता से मस्तक झुका लिया ।

सेनापति ने फिर कहना आरम्भ किया, "तुम्हें मालूम है कि मैं अपने पद का जीवन से भी अधिक प्यार करता हूँ । अतएव इस लड़ाई से ही मैं तुम्हें सेनापतित्व प्रदान करता हूँ, और आशा हूँ कि ईश्वर तुम्हें चिरकाल तक इस पद पर रक्खे ।"

"मैं जिस पद के लिए सर्वथा अयोग्य हूँ उसका भार लेने का कभी साहस नहीं कर सकता । हाँ यदि आप देना ही चाहते हैं, तो अपनी दुहिता का हाथ देकर सदा के लिए मुझे अपना क्रीतदास बना लीजिए ।"

सेनापति शस्त्राघात सह सकता था, पर इन वाक्य-बाणों को न सह सका । वह इस वज्र-प्रहार से व्याकुल हो गया । उसने सक्रोध कहा—"हैं, यह क्या ! मेरा अपमान करते हो । याद रक्खो, मैंने नहीं कहा था कि अपनी सबसे प्रिय वस्तु दे रहा हूँ । लड़की पर मेरा कोई अधिकार नहीं । वह स्वयं कर्त्तव्याकर्त्तव्य समझती है । उसका अस्तित्व किसी के अधीन नहीं है, वह स्वतन्त्र सत्ता रखती है ।"

"यह तो केवल बहाना है । पिता का ही पुत्री पर अधिकार न होगा तो और किसका होगा ? इसके अतिरिक्त वह आपकी परम आज्ञाकारिणी है । प्रस्ताव करने भर की देर होगी ।"

"आज्ञाकारिणी है, अतः मेरे कहने को नहीं टालेगी । लेकिन

मैं कभी उसकी स्वतन्त्र चेतना को दबाकर कोई काम करने की अनुमति नहीं दे सकता। क्योंकि मैं जानता हूँ मैं ऐसा कोई अधिकार नहीं रखता।"

"आप नहीं कर सकते ?"

"करना तो दूर, मैं सच कहता हूँ, आज कोई दूसरा होता तो यह तलवार उसका सिर धड़ से अलग कर देती। मैं आज्ञा देता हूँ कि इसी क्षण यहाँ से निकल जाओ, और जब तक विचारों में परिवर्तन न हो, मुझे सूरत न दिखाना।"

"बहुत अच्छा!" कहकर सरदार ऐंठता हुआ एक ओर चला गया।

[छः]

मोमबत्ती के प्रकाश में युवती ने आँख खुलते ही सरदार के बाएँ हाथ में अपना एक हाथ और दाहिने में चमकती हुई कटार देखी। उसने उठना चाहा, पर सरदार ने दबा लिया और कहा—अब बतला तो वह गर्व कहाँ गया ? अब भी समय है। केवल 'हाँ' और 'न' पर तेरा जीवन और मरण अवलम्बित है। बोल क्या कहती है ? मेरा प्रस्ताव स्वीकार है न ?

'रे मूर्ख ! क्षत्रिय दो से प्रेम करना जानती ही नहीं। तुझ-सा कायर जन्मान्तर में भी उनके हृदय-सिंहासन पर बैठने योग्य नहीं हो सकता। एक नहीं हजार बार मारने पर भी यह आशा छोड़ दे कि मेरे इन शब्दों में कभी किसी प्रकार का हेरफेर होगा।"

अकस्मात् सरदार पैर से कुचले सर्प की भाँति अपमान से तिलमिला उठा और कटार चलाना ही चाहता था कि सेनापति ने [illegible] पर उसका हाथ पकड़ लिया। सिपाही उसे बाँध ले गए।

[सात]

पहले दिन हाथ आई हुई विजय-श्री के चले जाने से आज दूसरी के पक्ष के वीर बड़े उत्साह से लड़ रहे थे। सैनिक और युवती का मोर्चा आज आमने-सामने था लेकिन दोनों इधर उधर वार कर रहे थे। धीरे-धीरे लड़ाई ने ऐसा भीषण रूप धारण किया कि रक्त की नदी बह चली। दोनों सेनाएँ ऐसी गुँथ गईं कि अपने पराये का ज्ञान न रहा। इसी समय युवती के हाथ से चलाया हुआ भाला सैनिक के हृदय को पार कर गया और वह समर भूमि में उन्मूलित वृक्ष की भाँति गिर पड़ा। युवती ने तलवार फेंककर कूद पड़ी। लोग कौतूहल से देख रहे थे कि उसने रक्त से भीगा हुआ सैनिक का मस्तक अपनी गोद में रख लिया और रुमाल से पोंछकर हवा करने लगी।

लाख प्रयत्न करने पर भी उसे चेत न हुआ। युवती आर्त-स्वर में चीखने लगी—मेरे चीरकनाकेश के प्रभो! क्या अब मेरी ओर न देखोगे! क्या मुझे कलङ्किनी बनाने के लिए ही जीवन-दान दिया था, अब मैं क्या करूँ! यह हत्यारा शूल --

भाले को उसके शरीर से खींचकर अपने माथे पर पटक लिया। बेहोश सैनिक चीख पड़ा, और उसके मुँह से निकल गया—बड़ा शीतल

है, अत्यन्त सुखकर है ! शान्त है, मधुर है ! अमृत है, स्वर्ग है—हा, हा, हा ! प्रियतमे तुम्हारा दर्शन!

वह आगे कुछ बोल न सका। उसके प्राण पखेरू उड़ गए और युवती का करुण-विलाप संग्राम की तुमुल ध्वनि में खो गया।



मुसाफिर

बड़े दिन की छुट्टियाँ और घर जाने की तैयारियाँ नौकर पेशा लोगों के लिए अक्सर साथ साथ शुरू होती हैं। मैं भी अपने बीवी-बच्चों के साथ स्टेशन पहुँचा। उन्हें तीसरे दर्जे की कशमकश से बचाने के लिए मध्यम दर्जे का टिकट लिया वर्ना मेरी आदत में मनहूसियत कम है। मैं सदा ऐसे ही डिब्बे में जगह तलाशता हूँ जहाँ अनोखी-अनोखी चिड़ियाँ चहचहाती हों।

गाड़ी आकर खड़ी हुई। मैंने खिड़की खोलदी। श्रीमती बच्चे को लेकर एक सीट पर जा बैठीं। कुली ने सूटकेस, बिस्तर और फलों की टोकरी अन्दर रख दी। उसे पैसे देकर मैं भी भीतर जा बैठा। अकेला होता तो इधर उधर घूमकर देखता पर उस इच्छा पर शासन करना पड़ा।

दियासलाई खींचकर मैंने सिगरेट जला ली। डिब्बा बिलकुल खाली था। सिर्फ एक महाशय लाल इमली का बढ़िया कम्बल ओढ़े इस तरह सो रहे थे जैसे उसका विज्ञापन करते हों।

गाड़ी सीटी देकर चलने ही वाली थी कि वे चौंककर उठ बैठे

पूछा—जनाब, कौनसा स्टेशन है ?

मैंने कहा—बनारस कैन्ट।

गाड़ी सीटी देकर चल पड़ी। वे भी जल्दी से असबाब नीचे फेंककर कूद ही तो पड़े। मैंने कहा—आ क्या आप तो चल दिये ?

प्लेटफार्म पर खड़े हो अँगड़ाई लेते-लेते उन्होंने कहा—जी हां, आदाब। मैंने भी जली हुई सिगरेट फेंककर चलती गाड़ी से सिर निकालकर कहा—तस्लीमात, पर वह उनके कानों तक शायद नहीं पहुँच सका। गाड़ी स्टेशन से बाहर हो गई।

[दो]

हम तीन प्राणी बैठे थे। बच्चा कभी मेरे पास कभी अपनी माँ के पास जाकर कहता—उधर ले चलो। उसकी शरारत से जितनी ही हम लोगों को परेशानी होती थी, उतना ही वो भी बहलता था। कभी, मैं हँसता, कभी मेरी बीबी।

यह तमाशा परन्तु बहुत थोड़ी देर रहा। बच्चा थक कर अपनी माँ की गोद में सो रहा। खाली गाड़ी में हम दोनों स्त्री-पुरुष एक दूसरे का मुँह ताकते हुए बैठे रहे।

किसी छोटे स्टेशन पर गाड़ी रुकते ही एक तेईस चौबीस साल का युवक डिब्बे में चढ़ आया। मैंने उसके फटे मैले कपड़े और रोनी सूरत देखकर मन ही मन कहा—यह डिब्बा तुम्हारे काबिल नहीं मालूम होता, फर्स्ट क्लास के किसी बर्थ पर जाकर लेटने तो अच्छा होता।

मुसाफिर

बड़े दिन की छुट्टियां और घर जाने की तैयारियां नौकर पेशा लोगों के लिए अक्सर साथ साथ शुरू होती हैं। मैं भी अपने बाल बच्चों के साथ स्टेशन पहुंचा। उन्हें तीसरे दर्जे की कशमकश से बचाने के लिए मध्यम दर्जे का टिकट लिया बर्ना मर्दी आदत में मनहूसियत कम है। मैं सदा ऐसे ही डिब्बे में जगह तलाशता हूँ जहां अनोखी-अनोखी चिड़ियां चहचहाती हों।

गाड़ी आकर खड़ी हुई। मैंने खिड़की खोलदी। श्रीमती बच्चे को लेकर एक सीट पर जा बैठीं। कुली ने सूटकेस बिस्तर और फलों की टोकरी अन्दर रख दी। उसे पैसे देकर मैं भी भीतर जा बैठा। अकेला होता तो इधर उधर घूमकर देखता पर उस इच्छा पर शासन करना पड़ा।

विचारधाराएं खींचकर मैंने सिगरेट जला ली। डिब्बा बिलकुल खाली था। सिर्फ एक महाशय लाल इमली का बढ़िया कम्बल ओढ़े इस तरह सो रहे थे जैसे उसका विज्ञापन करते हों।

गाड़ी सीटी देकर चलने ही वाली थी कि वे चौंककर उठ बैठे

पूछा—जनाब, कौनसा स्टेशन है?

मैंने कहा—बनारस कैन्ट।

गाड़ी सीटी देकर चल पड़ी। वे भी जल्दी से असबाब नीचे फेंककर कूद ही तो पड़े। मैंने कहा—यह क्या आप तो चल दिये?

प्लेटफार्म पर खड़े हो अँगड़ाई लेते-लेते उन्होंने कहा—जी हाँ, आदाब! मैंने भी जली हुई सिगरेट फेंककर चलती गाड़ी से सिर निकालकर कहा—तसलीमात, पर वह उनके कानों तक शायद नहीं पहुँच सका। गाड़ी स्टेशन से बाहर हो गई।

[दो]

हम तीन प्राणी बैठे थे। बच्चा कभी मेरे पास कभी अपनी माँ के पास जाकर कहता—ऊपर ले चलो। उसकी शरारत से जितनी ही हम लोगों को परेशानी होती थी, उतना ही जी भी बहलता था। कभी, मैं हँसता, कभी मेरी स्त्री।

यह तमाशा परन्तु बहुत थोड़ी देर रहा। बच्चा थक कर अपनी माँ की गोद में सो गया। खाली गाड़ी में हम दोनों स्त्री-पुरुष एक दूसरे का मुँह ताकते हुए बैठे रहे।

किसी छोटे स्टेशन पर गाड़ी रुकते ही एक तेईस-चौबीस साल का युवक डिब्बे में चढ़ आया। मैंने उसके फटे मैले कपड़े और रोनी सूरत देखकर मन ही मन कहा—यह डिब्बा तुम्हारे काबिल नहीं मालूम होता, थर्ड क्लास के किसी बर्थ पर जाकर लेटते तो अच्छा होता।

गाड़ी चल पड़ी पर वह बैठा नहीं, बल्कि खिड़की में मुँह डालकर बाहर हरे भरे मैदानों की ओर ताकता रहा। मैंने इसके दो मतलब समझे। एक तो यह कि सम्भव है वह किसी कारण वश कहीं तो जाना पर अब मन हिचक रहा है। दूसरे, शायद नई बीवी को छोड़कर वे बाहर नौकरी पर जाना पड़ रहा है इसी से सिर निकालकर अपने गुजरते घर के द्वार की ओर एकटक देख रहा है, परन्तु अब गाड़ी कई मील निकल आई और वह अन्दर आकर बैठा नहीं तो मुझसे न रहा गया। मैंने धीरे से मुस्कराकर पूछा—बैठिये न, बीवी के प्रति इतना पक्षपात क्यों करते हैं।

उसने बड़े प्यार से मेरी ओर देखकर कहा—यह गाड़ी कहाँ जा रही है साहब?

मुझे हँसी आई, पर मेरी स्त्री ने होंठों के सामने उँगली करके उसे प्रस्फुटित नहीं होने दिया। न जाने उस उदास युवक की किस बात ने उसे इस तरह प्रभावित कर दिया था। मैंने हँसी दबाकर पूछा—आपको कहाँ जाना है?

मैंने देखा—उस युवक की आँखों में आँसू छलछलाने लगे। वह एक लम्बी साँस खींचकर एक तरफ बैठ गया।

मुझे बड़ी दया आई। मैंने पूछा—क्यों भाई ऐसे क्यों है?

उसने हाथ माथे पर रखकर कहा—जनाब मैं अभी कुछ घण्टे पहले आया था। अब फिर लौटा जा रहा हूँ।

मैंने पूछा क्यों ?

"मेरी स्त्री मर गई" उसने कहा, "मैं उसे परसों खूब अच्छी तरह छोड़ आया था। कल सुना, वह बीमार है, मैं तुरन्त दौड़ा आया। ठीक आधी रात को घर पहुँचा, पर वह सूना था। घर के कोने-कोने में अन्धेरा भरा हुआ था, मेरी स्त्री न थी। मेरे पहुँचने से पहले ही उसका अन्तिम संस्कार हो चुका था। मैं उसके शव को भी न देख पाया। उससे अन्त समय दो बातें भी न कर पाया। हममें से किसी को भी मालूम न था कि परसों की विदा इस दुनिया की अन्तिम विदा थी।"

उसका गला रुँध गया, जरा ठहरकर उसने कहा—मृत्यु भी चुन चुनकर खुशबूदार और खुशनुमा फूलों को ही तोड़ती है। उन को जाने के लिए किसने इतनी जल्दी की, यही मेरी समझ से इतनी उदासीन क्यों है!

स्टेशन आ गया। वह मुझे नमस्कार करके उतर गया। मैंने जाते समय उससे पूछा—आप यहां नौकर हैं क्या?

उसने कहा—हां, जिसके लिये नौकरी की थी वह रही नहीं इसलिए अब उसे छोड़ने जा रहा हूं।

गाड़ी चल पड़ी, मैंने मुंह फेरकर देखा मेरी स्त्री आंचल में मुंह छिपा कर रो रही थी। मैंने भी उसे मना नहीं किया।

इलाज

सुभद्रा की दवा कराने का रामसिंह को शौक भी था और फिक्र भी। बीवी थी नहीं, लड़के मर चुके थे। उनके प्राणों का प्राण अकेली लड़की सुभद्रा उनके भरे घर की एक मात्र दीपशिखा थी। वह भी दुबली-पतली, क्षीण और रुग्ण। बूढ़े पिता का एक अवलम्ब भी चिन्ता की भरती से ढका था। बस, इसीसे उन्हें दवा कराने का व्यसन-सा हो गया। कोई कुछ दवा देता उसे वे शक्ति भर उठा न रखते। जिन लोगों का दवा प्रचारक किया था उनकी एक-एक बात का धर्मशास्त्र के उपदेशों की तरह पालन किया। हकीम, वैद्य से लेकर सभी सयानों के घर का रास्ता छान डाला, पर कोई दवा कारगर न हुई।

एक नहीं पूरे तीन साल से सुभद्रा के शरीर में कीड़ा सा लग गया है। वह बराबर सूखती जाती है। उसके पीले मुख पर चिन्ता का कुहासा छाया रहता है। रामसिंह चुपचाप बैठकर कभी-कभी सोचते— विधाता के विश्व में क्या कोई ऐसी दवा है जो बेटी को अच्छा कर सके!

सुभद्रा पिता के मन का मर्म समझकर हँसने और प्रसन्न रहने की चेष्टा करती लेकिन, कभी-कभी कहना चाहती—पिता जी दवा कराने में जितने

तत्पर है, यदि कहीं उसी तरह बीमारी का कारण अनुसन्धान करने लगते !—बस, उसके सूखे होठों पर रूखी-फीकी हँसी की रेखा आकर लुप्त हो जाती । पीड़ा का एक अभिनव भाव, चिन्ता और शोक के मार से दब जाता, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें जल की बूँदों से छल-छला जातीं । कोई स्मृति उसके स्थिर नेत्रों के सामने अपना चित्रपट रखकर चली जाती ।

[दो]

"बेटी पहाड़ चलोगे ।'

"क्यों, पिता जी किसलिए !'

कारण पिता से पहले पुत्री जानती थी । राम-लक्ष्मण की तरह दो पुत्र मरते मर गये तब रामसिंह ने कभी इस तरह दौड़-धूप करने की जरूरत नहीं समझी । वे ही अब बेटी को लेकर पहाड़ जायेंगे !—इस विचार ने पिता-पुत्री दोनों को व्यथित कर दिया । उन्होंने कुछ भी उत्तर न देकर सुभद्रा को खींचकर पास बिठा लिया । बेटी भी पिता की गोद में अपना मुँह छिपाकर पड़ रही ।

पहाड़ गये । पुरी की यात्रा कर आये । ऐसे-ऐसे स्थान और दृश्य देखे कि बुढ़ापे में भी रामसिंह का हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से भर गया । हिमाच्छादित पर्वतशृङ्ग, द्रुतगामी झरने शीतल जलप्रपात, रौप्य-सलिला सरिताएं, सफेद शान्त सम्पूर्देश सागर की हिल्लोलमयी नील जलराशि उन सब में एक नया ही जीवन, एक अमानवी ही उल्लास था,

लेकिन सुमत्रा ने उन्हें मरे हुए अरमानों से देखा। किसी तरह का आनन्द, किसी तरह का उत्साह उसके मलिन मुख को प्रफुल्लित न कर सका।

[तीन]

पहाड़ पर रामसिंह को एक बहुत पुराने मित्र मिल गये थे। उनका नाम था ठाकुर विजयसिंह। चालीस साल पहले रामसिंह के साथ वे गाँव की पाठशाला में भर्ती हुए थे। वे उस समय अच्छी अवस्था में न थे पर बाद को सरकारी नौकरी में उन्होंने बड़ा रुतबा पैदा किया। उन्हीं के साथ-साथ रहने से रामसिंह का किसी तरह का कष्ट नहीं हुआ। ठाकुर विजयसिंह अपने साथ ही उन्हें डाक-बंगले में ठहराते थे। उन्हीं अपने परम सुहृद मित्र को पुत्री से छोड़कर एक पत्र लिख देने के इरादे से वे कलम-दवात लेकर बैठे।

सुमत्रा आकर पिता के पास बैठ गई। वह चुपचाप देखने लगी कि इतने प्यार से किसे पत्र लिखा जाता है।

रामसिंह ने लिखा—मित्रवर, बेटी को कोई लाभ नहीं हुआ। मेरी बुड्ढी हड्डियों में तो एक तरह का जीवनरस प्रतीत होने लगा है पर वह तो वैसी आकांक्षाहीन पहले थी, वैसी ही अब है। न कोई इच्छा है, न कोई उत्साह। माया और ममतामय संसार उसके लिए निस्सार-सा है। वह चाहती है तो पिता को, जीवित है तो पिता के लिये, हँसती है तो पिता के लिये और रो पड़ती है तो भी उसी के लिये। नहीं तो उसे न जीने का उत्साह है न मरने से भय। मुझे ऐसा समझ पड़ता है कि जन्मान्तर

का कोई संस्कार मेरे इस शरीर के पीछे पड़ रहा है। यदि मुझे यह विश्वास हो जाय कि मेरे बाद सुभद्रा अच्छी हो जायगी तो, मुझे मरने में जो सुख मिले वह मेरे जीवन के तमाम सुखों से श्रेष्ठतर हो। हाय! हर मनुष्य की ज्ञानशक्ति तो वहाँ पहुँचने से बहुत पहले ही पंगु हो जाती है।

आज तुम्हें पत्र लिखने का एक विशेष कारण भी है। एक बार तुमने कहा था, सुभद्रा को किसी सुपात्र के हाथ सौंप दो। सम्भव है कौमार्य दूर होने से ही उसकी व्याधि कट जाय। मैंने भी कई बार यह बात कई तरह से सोची थी, पर सुभद्रा के उदासीन तथा जीवन्मुक्त भाव और उसकी मरणोन्मुख आकृति ने मुझे ऐसा करने से रोक दिया। अब मुझे यही एक उपाय करना रह गया है। कहो कैसे क्या करूँ? क्या तुम यहाँ आकर मुझे उचित परामर्श नहीं दे सकते?

इसके बाद ज्योंही रामसिंह ने मुँह उठाया, त्योंही सुभद्रा पिता के पास से उठकर भीतर चली गई। क्षण भर सुभद्रा की ओर देखकर उन्होंने पत्र पूरा किया। लेटरबक्स में डलवा दिया। पढ़कर कल्पना के साथ क्रीड़ा करने लगे। सोचा वात्स्य बन्धु विजयसिंह आ गये हैं। उनके प्रस्ताव को सुनते ही सुभद्रा का स्वास्थ्य और का और हो चला है। बड़ी दौड़धूप के बाद बड़ा सुन्दर सा एक मुहूर्त्त पर सलगन किया है। सुभद्रा बड़ी प्रसन्न है। वह अच्छे अच्छे वस्त्राभूषण पहनकर घर को शोभायमान कर रही है। बारात आई कन्यादान हो गया। जो हमेशा यही कहता राधा माधव की सी जोड़ी मिली है लेकिन विदा के बाद उनसे कैसे रहा जायगा। इस समय के आगमन की उत्सुकता बनकर सुभद्रा

पति के यहाँ चली ही जायगी ; पर इसीलिए तो इतना आयोजन किया था। सुमद्रा प्रसन्न है, बस इसी में तो मेरी खुशी है। बाहर रेती हुई धूप में अपना स्थान परिवर्तन कर दिया पर वे अपनी विचारधारा में आकण्ठ निमग्न हो रहे थे।

[चार]

सुमद्रा पिता के पास से सीधी अपने सोने के कमरे में चली गई। वहाँ पहुँचकर वह वेग से रो पड़ी। रोते रोते उसकी आँखें फूल गईं। उसका सारा अञ्चल आँसुओं से तर हो गया।

रात को रामसिंह जब भोजन करने बैठे तो सुमद्रा न थी। वह कहीं गई थी। कहीं भी हो, किसी दशा में रहे, पिता जब भोजन करने बैठते थे तो सुमद्रा सदा उपस्थित रहती। वह अपने हाथों ही उनके लिये थाली सजाती थी। रामसिंह का दिल धड़क उठा। पूछने पर मालूम हुआ कि उसकी तबियत अच्छी नहीं है। सिर में दर्द होने लगा है। रामसिंह ने सामने की थाली दूर खिसका दी। हाथ धोकर उठ खड़े हुए, और बेटी की दशा जानने के लिये दौड़े गये।

सुमद्रा ने बाहर आकर कहा—कुछ नहीं अच्छी हूँ, पर वह अपना मुँह पिता के सामने न कर सकी। रामसिंह ने उसके भावेशकल से इतना तो अच्छी तरह जान लिया कि वह अपना दर्द प्रकट करना नहीं चाहती। रामसिंह ने उस दिन कुछ भोजन नहीं किया। रात भर जागकर सवेरा कर दिया।

[पांच]

विक्रमसिंह का उत्तर आया। उन्होंने लिखा—घर में उत्सव है मैं नहीं आ रहा हूँ। आप भी सुभद्रा को लेकर आइये तो बड़ा अच्छा हो। वहां सब बातें आसानी से तय हो जायेंगी। मेरा अनुरोध है आप जरूर आइये। वहां मेरे एक कुशल वैद्य मित्र हैं। उनके हाथ में यश है। उनकी चिकित्सा में कमाल है। उन्हें एक बार सुभद्रा को दिखाने का मेरा बड़ा इरादा है। मैं सदा से ही आयुर्वेदिक चिकित्सा का भक्त हूं। उनके महत्व गुणों ने वैसा करने को मुझे बाध्य कर दिया है।

इतना पर्याप्त था। विक्रमसिंह ने तो पहाड़ी बीहड़ रास्ते से होकर अपने घर बुलाया था, यदि इसी तरह का आश्वासन देकर स्वर्ग से पुकार आती तो भी वे साथ विचार करते इस पर कोई विश्वास नहीं कर सकता। वे सुभद्रा को साथ लेकर चल पड़े।

आश्विन का आरम्भ हुए डेढ़ हफ्ता हुआ था। गंगा का विस्तार अभी तक बढ़ा था। दिनभर बैलगाड़ी पर रास्ता तय करके तीसरे पहर वे एक निर्जन घाट पर उतर पड़े जहां न वृक्ष की छाया थी, न किसी मकान का आश्रय। सुभद्रा दिन भर गाड़ी के झूले में पड़े पड़े व्याकुल हो उठी थी।

रामसिंह बेटी के सूखे हुए होंठ देखकर और भी चिन्तित हो उठे। थोड़ी ही देर में संध्या हो जायगी। ओस पड़ने लगेगी, कहीं उसे कुछ हो जाय! गाड़ीवान को रोककर स्वयं नाव लेने के लिए मल्लाहों को पुकारने गये।

एक बड़ी सी नाव किनारे आकर लग गई। वे झटपट सुभद्रा को लेकर उसमें जा बैठे। उन्हें एक-एक क्षण कल्प-भर हो रहा था। मगर मल्लाह मजे से तमाखू भर भर कर पी रहे थे। उन्हें जैसे नाव छोड़ने की कतई चिंता न थी।

रामसिंह ने बेचैन होकर पूछा—क्यों जी अब देर क्यों कर रहे हो?

एक मल्लाह ने खूब जोर से चिलम में दम मारकर धुआं पेट में पचाने के बाद कहा—चिन्ता किस बात की बाबूजी, अभी रस्सा उठाया और उस पार। एक दो मिनट और देख लें कोई और भूला भटका मुसाफिर आ जाय। यही आखिरी खेवा है।

रामसिंह ने फिर कहा—हमें दूर जाना है। इस बात का ख्याल रखना। हमें जल्दी उतार दोगे तो तुम्हें इनाम दिया जायगा।

मल्लाह—बहुत अच्छा, सरकार।

इसी समय थोड़ी दूर पर धूल उड़ती दिखाई दी। मल्लाह ने पुकारकर कहा—चलो भैया। नाव तैयार है।

जरा देर में एक गाड़ी आकर खड़ी हो गई। उसमें से बड़े ठाट-बाट से सजी हुई दो-तीन स्त्रियां उतर पड़ीं। एक बाईस-तेईस बरस का खूबसूरत युवक भी वहीं रेती में कूद खड़ा हो गया। उनके साथ दो-तीन नौकर भी थे। आकर नाव में गलीचे बिछा दिये। सब सामान मल्लाहों की मदद से जरा देर में नाव पर चढ़ गया। वे स्त्रियां और युवक आकर बिस्तर पर बैठ गये।

मल्लाहों ने जोर से चिल्ला कर कहा—'जय भगवती की' और नाव डाल दी।

[ख]

नाव लहरों पर खेलती हुई आगे बढ़ रही थी, धुंधले बादल के टुकड़े से छनकर सूर्य की हल्की किरणें लहरों के साथ नृत्य करती हुई सी समझ पड़ती थीं। नदी की प्रबल धारा में कलकल कुलकुल की आवाज हो रही थी। चप्पुओं का छपछप शब्द सब लोगों का ध्यान अपनी ओर खींच रहा था पर सुभद्रा का किसी ओर ध्यान न था, वह एक टक उस रेशमी बस्त्रधारी युवक की ओर देख रही थी।

जरा गौर से देखने से जान पड़ता कि वह युवक भी बार बार नजर बचाकर सुभद्रा को देख लेता था। दोनों एक दूसरे को पहचानने की कोशिश कर रहे थे। सुभद्रा की आंखें छलछला आयी थीं। युवक भी अपने मन के भाव को बचेनी से दबा रहा था।

रामसिंह ने अचानक सुभद्रा के सिर पर हाथ रखकर कहा—'बेटी! रोती क्यों है? क्या जी कुछ खराब है?'

सुभद्रा के मुंह से एकाएक निकल गया—'पिता जी! इन्हें तुमने पहचाना!'

इसके आगे वह बोल न सकी। लज्जा, संकोच और दुख के कारण आंचल में अपना मुंह छिपा लिया।

रामसिंह आश्चर्यविमूढ़ होकर सुभद्रा की ओर ताकते रहे। उसकी

बात का ठीक-ठीक आशय उनकी समझ में न आया। उन्होंने नाव में बैठे लोगों को गौर से देखा पर कुछ स्थिर न कर सके। उस युवक और उन स्त्रियों को पहचानने का प्रयास किया पर निरर्थक हुआ। सुभद्रा ने भी उनसे और कुछ न कहा।

सूरज अस्त हो रहा था। नाव धारा में बड़े बेतुके ढंग से बहकर बीच में कहीं रेती के टीले से अटक गई। मल्लाह कूद पड़े और रस्सा लेकर दूर खड़े हुए। उन्होंने इधर उधर हटाने की बहुत कोशिश की पर नाव किसी तरह निकलती नजर न आई। उन लोगों के प्रकार से ऐसा मालूम होने लगा कि शायद वह न भी निकल सके।

रामसिंह बेहद परेशान हो रहे थे, पर सुभद्रा को कुछ भी चिन्ता न थी। वह एक प्रकार से निश्चिन्त होकर बैठी थी। अब भी वह बार-बार उस युवक की तरफ देख लेती थी।

रामसिंह ने कई बार पूछा—कहो तो हम सब लोग भी उतरकर जोर लगायें। देर हुई जा रही है।

एक बात उस मल्लाह ने अब तक कई बार सुभद्रा और उसके पिता को लोलुपूर्ण दृष्टि से देख चुका था। उनके पास आकर धीरे से बोला—अब आज यह नाव कहीं न जा सकेगी। अगर आप चाहते हैं तो धीरे से किसी बहाने उतरकर चुपचाप उस कछार में होकर चले आइए। इस तरफ पानी घुटनों से ज्यादा नहीं है। समझ गए!

मल्लाह आंखों से इशारा करके हट गया। रामसिंह घबरा उठे। सुभद्रा का कलेजा धकधक करने लगा। अब क्या करना चाहिए! वह

बड़ी देर तक उसकी समझ में न आया ।

तुरन्त ही रामसिंह ने संभलकर कहा—बेटी उठ, तो हम लोग नगर चलें ।

सुभद्रा का सिर घूम रहा था । वह अचेत होकर गिर पड़ी । उसे मूर्छा आ गई । देर तक पानी के छींटे मुँह पर डालने के बाद उसने आँखें खोलीं । पिता ने उसे आश्वासन देकर कहा—पगली हुई है क्या । चल मेरे साथ, तुझे किस बात का डर है !

सुभद्रा ने कोई उत्तर न दिया । एक हल्की-सी आह खींचकर चुप रही ।

[सात]

रामसिंह ने कहा—बेटी देर न कर ।

सुभद्रा ने एक प्रकार की निश्चिन्तता दिखाते हुए कहा—क्या सब की रक्षा नहीं अपनी । अगर भागना ही है तो इन सबको भी साथ ले लो न पिता जी ।

रामसिंह—तब तो अपना उद्धार भी असम्भव हो जायगा ।

सुभद्रा—पर पिता जी इन्हें बता देना तो हमारा कर्तव्य है । चुपचाप अकेले अपनी रक्षा का उपाय करके औरों को आपत्ति के मुख में छोड़ जाना उचित नहीं है । आपने शायद अभी पहचाना नहीं, ये कौन हैं ।

रामसिंह ने बेटी की ओर आश्चर्यान्वित होकर देखा, फिर पूछा—

कौन है ? कहती क्यों नहीं ?

नरेन्द्र और भी—आप इतनी जल्द भूल जाते हैं—कहकर गुस्सा में अपना मुँह छिपा लिया ।

रामसिंह चौंक पड़े—नरेन्द्र ! उपेन्द्र का भाई ! इतने बरस बाद तूने कैसे पहचान लिया !

वे उठकर नरेन्द्र के पास पहुँचे । नरेन्द्र ने खड़े होकर उनका स्वागत किया ।

वह कुछ कहना चाहता था पर रामसिंह ने टोककर कहा—हम लोग यहाँ पर सुरक्षित नहीं हैं । यदि शीघ्र ही कोई उपाय न हुआ तो बचाव असम्भव है ।

कुछ देर वे बातें करते रहे ।

उसके बाद नरेन्द्र ने अपने नौकर से कहा—मल्लाहों से जाकर कह दो । अब और अधिक मेहनत न करें । आज हम लोग यहीं रह जायेंगे वे लोग अब सुस्ताकर भोजन पानी कर लें ।

फिर चलते-चलते उसके कान में भी कुछ कह दिया ।

मल्लाह लंगर डालकर निश्चिन्त हुए । अस्ताचल पर जा सूर्य की लाली भी अब छिप चुकी थी । अन्धकार फैल रहा था । नदी के मच्छर शब्द से शोर कर रहे थे । एकाएक हरहर करके हवा का झोंका आया और उसी के साथ ही किसी ने नाव का रस्सा काट दिया । क्षण भर में वह नौका वेग से अँधेरे में एक ओर को बह गई । तीन मल्लाहों के साथ

पर अनेक आवाजें आईं —रोको, पकड़ो पर वे वहीं नदी के हाहाकार में विलीन हो गई ।

[आठ]

वहां से चले थे उसी किनारे फिर सब लोग सुरक्षित पहुँच गए । रात भर सब जागते रहे । अब तक सब का डर बना था । करीब-करीब सभी भयभीत और दुखित थे । केवल सुभद्रा हर्ष से खिली जाती थी ।

नरेन्द्र से पूछने पर जब रामसिंह को पता चला कि वह भी विजयसिंह के यहां उत्सव में जा रहा है, तो वे और भी प्रसन्न हुये । दूसरे दिन सब लोग साथ साथ दूसरी नाव पर सवार होकर पार हो गये ।

इस आकस्मिक आपदा ने सब लोगों को एक दूसरे से बांधने का यत्न कर दिया था । नरेन्द्र के घर की स्त्रियें भी रामसिंह से बातचीत करने लगीं थीं। पर सुभद्रा और नरेन्द्र में कुछ भी वार्तालाप न हुआ । वे एक दूसरे के लिये पत्थर की मूर्ति की तरह मौन थे ।

रामसिंह ने पहुंचते ही विजयसिंह का सारा हाल बतलाकर पूछा— नरेन्द्र सुभद्रा के लिए कैसा वर रहेगा?

विजयसिंह ने कहा—बड़ा ही अच्छा ।

बाद में जब पता चला कि सुभद्रा और नरेन्द्र तो पहले ही बचपन में कभी ब्याह की प्रारंभिक रस्में पूरी कर चुके हैं, तो रामसिंह और

विजयसिंह दासों के आनन्द का ठिकाना न रहा ।

सुमद्रा के रोग का तो किसी को ध्यान भी न आया । वह भी बिना किसी दवा दारू के अपने को चंगा अनुभव कर रही थी ।

आश्रयदान

सौदे के लिये लाई हुई चवन्नी खोकर एक दस-ग्यारह साल की लड़की रोती हुई जा रही थी। गली में मुड़ते ही भीड़ को चीरकर एक लड़के ने उसके सामने आकर पूछा—क्या है? क्यों रोती है?

हजारों लोगों में उस दुखिया की कौन खबर रखता है? लड़की ने लड़के की तरफ देखा और फिर से रो दिया।

बात नहीं फूटता? क्यों रोती है, अरी?—लड़के ने झिड़ककर कहा।

लड़की ने मैली ओढ़नी से बड़ी-बड़ी आँखें पोंछ डालीं। एक-दो तीन बार जोर जोर से सिसककर कहा—चवन्नी, मेरी चवन्नी कहीं खो गई। हाय! अब मैं क्या करूँगी?

लड़के ने कहा—आँखें मूँदकर रोते रोते चवन्नी पाने से मिल जायगी? चल लौट—बता, किधर कहाँ कहाँ गई थी?

लड़की आगे आगे और लड़का पीछे पीछे एक जगह से दूसरी जगह जा चवन्नी खोजने लगे।

खोजते खोजते दोनों थक गये। कहीं पता न लगा। लड़की ने

लड़के के चेहरे पर एक दृष्टि डालकर मानो यह बात कहनी चाही—पगला, तेरी शक्ल भी गुम हुई या नहीं ?

लड़के ने लड़की का आंचल खींचकर कहा—अच्छा ठहर। यहीं खड़ी रह मैं अभी आया। लड़का भाग गया। लड़की खड़ी खड़ी उसे देखती रही। ज़रा देर में उसने लौट कर कहा—ये पन्द्रह पैसे हैं लेजा, इतने से किसी तरह काम चला ले।

लड़की ने पैसे ले लिये। एक बार फिर लड़के की ओर देखा और हँसकर चल दी।

लड़के ने पुकार कर पूछा—क्यों री ! तेरा नाम ?

यह मैं किसी को नहीं बताती कहकर लड़की पास की दुकान पर सौदा खरीदने लगी।

लड़का कुछ कुछ खोया हुआ सा एक ओर चला गया।

[चा]

कुछ दिन बाद वही लड़का अपने घर में ग्रामोफोन बजा रहा था। और लड़की चुपचाप बैठी बड़े ध्यान से गीत सुन रही थी। लड़के ने रेकार्ड पर से सुई हटाकर कहा—कौशिल्या ! जाओगी नहीं तू ?

कौशिल्या जैसे स्वप्न से जागकर बोली—ओफ़ ! देर हो गई है ! क्या बजा है ?

लड़के ने घड़ी की तरफ घूमकर कहा—दस।

कौशिल्या—गजब हो गया। कहीं बहू जी सो न गई हों !—

मोर ! बाहर तो अँधेरा छा गया है ।

लड़के की मौसी, माया, पास ही दरवाजे में बैठी थी, बोली—कौशिल्या ! तू पराये नौकर है ! चाल-चलन का ध्यान रक्खा कर ।

लड़की कपड़ा आँखों में देकर रोने लगी ।

माया—रोती क्यों है ! उठ, चल आ । मैं लालटेन दिखाये देती हूँ । मकान कहीं दूर तो है नहीं ।

कौशिल्या ने रोते-रोते कहा—हम आ गये हैं तो वे जरूर ही लौट आई होंगी ।

लड़के ने पूछा—कहाँ गई थी वे ?

कौशिल्या—मुझे मकान की रखवाली को छोड़कर सिनेमा गई थी ।

लड़का—तब तू यहाँ क्यों चली आई ?

इसका उत्तर कौशिल्या न दे सकी । वह फिर रोने लगी । माया लालटेन ले आई, बोली—आ, मैं दिखाती हूँ ।

कौशिल्या रोती हुई बोली—अगर कहीं वे आ गई होंगी तो ?

माया—तो क्या करें ?

कौशिल्या—मेरी बोटी-बोटी उड़ा देंगी । अम्मा से यही कहकर वे मुझे अपने साथ लाई हैं । डिप्टी साहब भी आज घर पर नहीं हैं । किरण भी उनके साथ गई है ।—हाय ! अब मैं क्या करूँ ?

माया—नहीं वे ऐसा न करेंगी ।

कौशिल्या बड़े-बड़े आँसू गिराती हुई खड़ी रही ।

माया ने फिर पूछा—डरती क्यों है ? क्या कभी उन्होंने तुझे मारा है ?

कौशिल्या ने अपनी पीठ का कपड़ा हटा दिया। पीठ पर उपरे हुए कोड़ों के चिन्ह देखकर माया ने सिहरकर काँपते हुए कहा—ऐसी राक्षसी के साथ फूल सी कोमल लड़की भेज दी है। जी चाहता है तेरी अम्मा को इसके लिए खूब कोसूं।

फिर कहा—खर बेटी! अब तू देर न कर अभी चली जा, वे आईं न होंगी।

लड़की उसी तरह रोती-धुई जाने के लिए मुड़ी। माया ने लड़के से कहा—भैया! मेवाराम, लो यह लैम्प लेकर तुम जरा सिकुआ को पुकार तो दो, वह इसे पहुंचा देगा।

मेवा—मैं ही न जाकर पहुँचा आऊं ?

मेवा और कौशिल्या दोनों चुपचाप गली से होकर चले।

कौशिल्या ने कहा—मैं पिछले दरवाजे से गई थी। सदर दरवाजा बन्द था। अगर वह खुला हो तो समझना वे आ गईं।

मेवा ने जाकर देखा, सदर दरवाजा खुला था। भीतर रोशनी हो रही थी। यह सुनकर कौशिल्या के मानो शरीर से प्राण निकल गये। उसने विनीत करुण स्वर में कहा—अब बोलो, मैं क्या करूं ?

मेवा ने पूछा—क्या करोगी ?

कौशिल्या—घर में पैर न दूंगी।

मेवा—फिर जाओगी कहाँ ?

मेवा ने समझा था डिप्टी साहब का घर छोड़कर कौशिल्या के लिये अगर कोई जगह है तो मेवा की मौसी का घर, और नहीं जा कहाँ सकती है। कौशिल्या ने उसकी संभावना के बिल्कुल विरुद्ध कहा—जी चाहेगा वहाँ चली जाऊंगी। ठौर की क्या कमी है।—न होगा कहीं सड़क पर पड़ी रहूंगी।

मेवा का मुंह उतर गया। उसने कहा—सड़क पर !

कौशिल्या—तुम अब लौट जाओ भाई।

मेवा—कहीं नहीं जाओगी तो चलो मेरे साथ लौट चलो मौसी के पास।

कौशिल्या—वहाँ भी न जा सकूंगी।

मेवा—वहाँ चलना होगा। मैं पकड़कर ले चलूंगा।

उस सुनसान अंधेरी गली में मेवा कौशिल्या का हाथ पकड़कर उसे अपने घर लौटा ले गया। कौशिल्या इनकार न कर सकी। चुपचाप धड़कते हृदय के साथ आंखों में आंसू भरे हुए मेवा के पैरों का अनुसरण करती हुई उसके घर लौट गई।

[तीन]

बरसें गुजर गई हैं। मेवा कौशिल्या को भूल गया होगा, पर कौशिल्या शायद अभी उसे नहीं भूली है। लड़कियाँ अक्सर नहीं समझ लेती हैं कि लड़कपन की छोटी-मोटी बातों को कैसे वे याद किये हुए हैं

वैसे ही उसके गाने भी किये होंगे। यही उसका भोलापन है, यही उसकी सरलता है। मर्दों को इतनी फुरसत कहां रहती है कि वे सब बातें ज्यों की त्यों सुरक्षित रक्खें।

मेवा बी. ए., एम. ए. हो गया। किसी के साथ उसकी सहसा मुलाकात भी हो जाती है। अब वह उस दुहरे बदन की दुबली-पतली दीन-मलीन कौशिल्या की याद में अपनी अमूल्य घड़ियां कैसे खर्च कर सकता? पर कौशिल्या के लिये वही हरा-भरा संसार है। वह रात को वही स्वप्न देखती है, दिन को वही बातें सोचती है। किस दिन मेवा ने क्या कहा था और उसका उसने क्या उत्तर दिया था,—यह सोचकर कभी वह प्रसन्न होती है कभी रोती है और कभी चुपचाप विचारमग्न हो जाती है।

जिसने निराश्रिता को एक बार आश्रय दिया था वही फिर भी समय पड़ने पर उसे आश्रय देगा इस पर उसे पूरा विश्वास है। इसलिये दुखिया मां के रोने पर वह उसे बड़े गर्व से समझाने लगती—मां तुम क्यों चिन्ता करती हो? सब ठीक ही होगा, तब उसकी मां उसके गले में हाथ डालकर कहती, बेटी! मैं बड़ी अभागी हूं। मैंने तुझे जन्म देकर मां के नाम को कलंकित ही किया है। मैं तुझे कभी भी किसी तरह का सुख न पहुंचा सकी। मैं भी जानती हूं कि मेरे रहते तुझे कुछ सुख न मिलेगा। मेरे खोटे भाग्य के साथ जब तक तेरा सम्बन्ध है तब तक तुझे दुखी ही रहना पड़ेगा।

कौशिल्या मां को रोककर कहती—न मां, ऐसा न कहो। मुझे

तो कभी किसी तरह का दुख नहीं है। तुम व्यर्थ ही जी दुखाती हो!

इसी प्रकार मां बेटी अक्सर गले मिलकर आंसू बहाया करती थीं।

कौशिल्या की अवस्था सोलह साल की हो चुकी थी, पर बीमारी के कारण उसकी मां की इतनी सामर्थ्य न रह गई थी कि वह किसी तरह लड़की के हाथ पीले कर सके। वह न चारपाई से उठती थी, न मरती ही थी, ऐसा मालूम पड़ता था जैसे उसके प्राण भी किसी तरह के असमंजस में पड़े हैं।

मां बेटी दोनों की जीवन-नौका भंवर में भूल रही थी।

[चार]

मेवा कानून की परीक्षा देकर घर आया। घर पर पहले ही से आनन्द उत्सव मनाये जा रहे थे। दरवाजों में वन्दनवारें झूलती थीं। सभी कमरे सजाये गये थे। सब जगह गुलाबजल छिड़का जा चुका था। घर मेहमानों से भरा था। मेवा का हृदय आनन्द से नाच उठा। अब क्या देर है, तीसरे ही दिन तो उसका ब्याह होगा।

उसने भीतर जाकर मौसी के चरण छुए। फिर आकर बाहर के एक एक लोगों से मिला। थोड़ी देर में ढोल बजने लगा। पान से ओंठ रचाए मेवा मामी के दिल लोलकर बातें करने पर मन ही मन मुस्करा दिया। सारे नगर में धूम थी। मौसी ने रुपया तो पानी की तरह बहाया था।

लड़की जिन्होंने देखी थी वे कहते थे जोड़ी भी एक ही मिली है। दोनों ही शिक्षित हैं। दोनों ही सम्पन्न और प्रतिष्ठित घरों के हैं। सुन्दरता में भी वर और वधू दोनों का मेल है।

लड़की और कोई नहीं यही डिप्टी साहब की किरण है।

[पांच]

अब केवल एक दिन की देर है। बरात की तैयारी में सब की चतुराई लग रही है। यही सोचा जा रहा है कि बरात का जुलूस किस तरह निकाला जाय? कौन-कौन सा बैंड कहां पर रहे? दूल्हे की कार किस प्रकार सजाई जाय? किस सड़क से होकर किस प्रकार बरात निकले? कैसी-कैसी आतिशबाजी कहां कहां छूटे, किस तरह की रोशनी सजाई जाय?

लोग बाहर भीतर दौड़ रहे थे। सेवा भी चुपचाप एक-एक पल गिन रहा था। उस समय एक एक मिनट कटना उसे दुश्वार पड़ रहा था। जिस किरण की प्रशंसा सुनते सुनते वह परेशान हो गया था। वही किरण चन्द घण्टों के बाद उसकी हो जायगी। उस घड़ी के लिये वह बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहा था।

उस समय किसी ने लाकर एक पत्र उसके हाथ में रख दिया। सेवा ने उसे खोलकर पढ़ा, फिर लापरवाही से एक ओर फेंक दिया, पर थोड़ी देर में फिर उठाकर पढ़ा। कुछ देर बैठा बैठा सोचता रहा। न जाने कौन कौन सी बातें उसके दिमाग में घूम गईं। वह कुछ कुछ उदास हो

गया । फिर तीसरी बार पत्र पढ़कर अपनी जेब में रख लिया । बाहर निकल गया ।

बरात का समय हो चला पर वर का कहीं पता न था । सब लोग अचरज में आ गये । खोज होने लगी । तलाश कर थक गये तो सब को शंका होने लगी । मौसी, माता, तो यह सुनकर एक अँधेरे कमरे में जाकर रो पड़ीं । पर कहां गया वह किसी की समझ में न आता था । सभी कहते थे—वह ब्याह से अप्रसन्न भी तो नहीं था फिर गया कहां ?

जहां आनन्द और उत्सव हो रहा था वहां क्षण भर में घोर विषाद छा गया । सब लोग दुःख और चिन्ता से व्याकुल हो उठे ।

उसी समय मलिनवस्त्रा कोमलांगी कौशिल्या का हाथ पकड़े मेघा द्वार पर आकर गाड़ी से उतर पड़ा । मौसी भी आंसू पोंछकर अपने प्यारे पुत्र को छाती से लगा लेने के लिये दौड़ी ।

मेघा ने द्वार पर आते ही कहा—मौसी को बुलाओ आकर अपनी बहू की परछन करें ।

माता को यह देखकर मूर्छा आ गई । वे धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ीं । कौशिल्या ने उठकर जल्दी से उनका सिर अपनी गोद में रख लिया । सब लोग चकित भाव से खड़े ताक रहे थे ।

आश्रयहीना

लक्ष्मी की हँसी में एक ढीठपना था। जब लड़का-लड़की उसके पास आ जाता। उस पहले शर्म के मारे झेंपना ही पड़ता। लेकिन वह संकोच का संकट वह अधिक ठहरने न देती। जितना ही वह भागकर पिण्ड छुड़ाना चाहता, उतना ही वह उसे और लिपटाती। इससे थोड़ी देर भी उसके पास आने से कोई भी बच्चा उसे प्यार करने लगता था। लक्ष्मी का बच्चों के लिये था स्वाभाविक प्रेम था। वह उसकी हँसी में झलकता था। इस वात्सल्य का कारण शायद यही था कि उसके कोई सन्तान न थी। वह और उसके स्वामी ब्रजबिहारी अकेले उस बड़े से घर में रहते थे। जब वे काम पर चले जाते तो लक्ष्मी का अधिक समय सिलाई-बुनाई में जाता था। इस गृहस्थी के संसार में भी वह बच्चों के साथ खेलने को सदा लालायित रहती।

दिन भर के एकान्तवास के बाद शाम को लक्ष्मी की चंचल दृष्टि दरवाजे की ओर लगी थी। किसी के पैरों की आहट में उसके कान खूब सतर्क थे।—आकर पलंग बिछाया, चूल्हे की आंच को ठीक किया, दीपक की बत्ती को उकसाया पर एक कान और एक आस बराबर अपने काम में लगे थे। वह एकाएक उठकर चुपचाप मुस्कराती हुई खड़ी हो गई।

पद-ध्वनि पास आते ही किवाड़ खोल दिये और हँसकर देरी की कैफियत तलब की, पर आज स्वामी ने बदले में गले में बाँहें डालकर उसे प्यार नहीं किया—एक बार भी भुज-बंधन में कसकर यह नहीं कहा कि, 'अब कभी देर न होगी।'

उन्होंने उसके हृदय की भाषा न समझकर साधारण भाव से गलती स्वीकार कर ली, कह दिया—क्या किया जाए, नौकरी में देर सबेर क्या!

लक्ष्मी का विकासोन्मुख हृदय-कमल श्रीहीन और निष्प्रभ हो गया। वह चुपचाप जाकर अपने काम में लग गई। व्रजबिहारी जाकर कमरे में लेट रहे।

लक्ष्मी के फिर पुकारने पर उठ बैठे। नित्य कृत्य और सन्ध्या-वंदन के उपरान्त भोजन किया। किसी काम में प्रत्यक्ष रूप से किसी तरह का व्यतिक्रम नहीं दिखाई पड़ा। लेकिन उनकी चिरसंगिनी का अच्छी तरह ज्ञात हो गया कि आज शुरू से आखिर तक तमाम कामों में एक प्रकार की यन्त्रवत्ता और अन्यमनस्कता रही है। इसमें संशय नहीं कि उदासी का कोई बड़ा कारण है। लक्ष्मी जितना ही इस बात को सोचने लगी उतनी ही उसके हृदय में एक प्रकार की आशंका आकर घनीभूत होने लगी। उसने एक बार पूछना चाहा पर यह सोचकर रुक रही—यदि बतलाने योग्य होती तो वे खुद ही क्यों छिपा रखते।

भोजन के उपरान्त उस दिन व्रजबिहारी निकलकर टहलने भी नहीं गये। जाकर चारपाई पर लेट रहे। थोड़ी देर में हाथ पैर समेटती

हुई शंकिता लक्ष्मी भी अपनी उंगलियों में दो बीड़े दबाकर पहुंची। नींद को बुलाने के लिये लेटे हुए स्वामी के मुंह में जबरदस्ती पान देकर, उनके पैर दाबने लगी।

कुछ देर बाद अपने दुःख का भार अपनी स्त्री के कंधों पर भी डालने के लिये ब्रजबिहारी बोले—तुम्हें यह तो मालूम ही है कि कुटुम्ब के नाते मेरे एक चाचा और उनकी सात आठ साल की लड़की के सिवा कोई नहीं है।

लक्ष्मी—हां तो क्या हुआ ?

ब्रज०—दीवान राधेश्याम अवस्थी ने तार भेजा है। लिखा है, चाचा की तबियत बहुत खराब है, मेरा जाना जरूरी है, पर—

लक्ष्मी—हां जरूरी तो है ही। मैं समझती हूं कि सवेरे की गाड़ी से चले जाओ।

ब्रज०—कल सवेरे ?

लक्ष्मी—जाना तो इसी गाड़ी से था ; पर आज नहीं जा सके तो सवेरे किसी तरह रुकना ठीक नहीं।

[दो]

चौथे दिन ब्रजबिहारी लौट आये। लक्ष्मी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—चाचा जी की तबियत अब अच्छी है न ?

ब्रजबिहारी—हां अब वे रोग से चिर-मुक्त हो गये। मैंने तो यही कहा था कि यहां पीछे आकर अपना स्वास्थ्य बरबाद करना है। मुझे

आदमियों की दवादारू करके उन्हें मृत्यु से बचाना उनकी अन्तिम शांति को नष्ट करना है। मैं कभी न आता पर राधेश्याम ने लिखा था। न पहुँचने पर निन्दा करते, कहते—"बड़ा स्वार्थी आदमी है। बाबा के पास धन होता तो दौड़ा आता।' अवसर के लिये एक बात कहने को हो जाती। इसीलिये इतना समय और इतना रुपया बरबाद कर आया हूँ।

लक्ष्मी—बाबा के लिये खर्च किये गये रुपये का बरबाद करना क्यों कहते हैं? ईश्वर इस तरह सभी का तन मन धन से गुरुजनों की सेवा का अवसर दे। धन कोई अपने साथ ला के नहीं आता।—मैं तो कहती हूँ उन्हें कुछ और भेज दीजिये।

प्रभ०—अब कहां तो उन्हें स्वर्ग में भेज दूं?

लक्ष्मी—यें, यह क्या कहते हो?

प्रभ०—ठीक ही तो कहता हूँ। उन्हें परलोक सिधारे आज तीसरा दिन है।

लक्ष्मी—तो तुम इतनी जल्दी क्यों लौट आये?

प्रभ०—क्या वहीं पड़ा रहता?

लक्ष्मी की आंखों में आंसू लहरा आये। उसने भारयुक्त कंठ से पूछा—उनका संस्कार?

प्रभ०—सब करुणा से करा दिया। यदि मैं उसमें लग जाता तो इतनी जल्दी वापस किस तरह आ सकता?

करुणा कौन थी, यह लक्ष्मी से अपरिचित नहीं था। वह मन ही मन दुखी होकर सोचने लगी—उस अमापनीय अबोध बालिका ने अकेले किस

तरह सब किया जाता ?

ब्रजबिहारी ने बतलाया कि वे करुणा का भी प्रबन्ध अपने मित्र के घर कर आये हैं। उन्हीं के परिवार में वह भी बनी रहेगी।

लक्ष्मी—अब तक निस्पन्द, निश्चल, उदासी किन्तु शान्त होकर सारी बातें सुन रही थी, अन्तिम बात से उसका सारा धैर्य छूट गया। उसने कंपित कंठ से कहा—आप भाई का तो करुणा को वहाँ छोड़ आना किसी तरह उचित न हुआ।

ब्रज०—क्यों ?

लक्ष्मी—इसलिये कि अभी वह एक दम अनाथ नहीं हो गई। भाई के घर के द्वार उस दुखिया के लिये मैं किसी तरह बन्द न होने दूँगी।—जाओ, जाकर तुम कल ही करुणा को ले आओ।

ब्रजबिहारी का स्वभाव चाहे जैसा रहा हो, पर लक्ष्मी जहाँ अड़ जाती, वहाँ उन्हें कर्तव्यविमूढ़ हो जाना पड़ता। उसका शासन उनके ऊपर कभी कभी बहुत कड़ा हो जाता था, पर स्त्री की जिद रखना उनके स्वभाव में एक गुण जरूर था। वे लक्ष्मी के आँसुओं को अपने रूमाल से पोंछ कर कमरे में जाकर आराम करने लगे।

[तीन]

प्रेमलता ने रात को राधेश्याम से पूछा—क्या करुणा को सचमुच भेज ही दोगे ?

राधेश्याम—और उपाय ही क्या है ? करुणा ब्रजबिहारी की

बहन है, वे उसे ले जाना चाहते हैं, तो हम किस तरह मना कर सकते हैं ?

प्रेमलता—मैं भी जानती हूँ उनकी बहन है पर क्या भाई ने ही उसे यहां नहीं रक्खा था ? तुम कहते थे वह अब यहीं रहेगी । अगर यह सब न कहते तो उर्मिला को जबाब क्यों दे देती ? बताओ, मधुआ को कौन खिलायेगा ? उर्मिला अब डिप्टी साहब का घर छोड़कर क्यों आने लगी ? उनके मिजाज तो दो ही दिन में आसमान में चढ़ गये हैं ।—जाओ जाकर साफ-साफ उनसे कह दो यह नहीं होगा । करुणा किसी तरह अब नहीं जा सकेगी । अगर तुम्हें मित्र के सामने लाज आती हो तो मैं जाकर कह दूं, कि पहले क्यों नहीं सोच लिया था ?—सोचा होगा लेजाकर उसी से सारा काम लिया करेंगे । घर में नौकरानी की फिक्र कम हो जायेगी ।

राधेश्याम स्त्री की दूरन्देशी पर मन ही मन कुपित होकर कर्कश स्वर में बोले—चुप रहो । अपनी दलीलें मेरे सामने पेश न करो । मैं जैसा उचित समझूंगा करूंगा ।

प्रेमलता ने बच्चे को आंचल के भीतर एक बार दबा कर, हाथ नचाते हुए पूछा—मैं भी तो सुनूं तुम्हारा वह उचित क्या है ? बच्चे को रखने का इन्तजाम कर लिया है ? नहीं तो मैं साफ कह देती हूं । दफ्तर के वक्त पर रोटी की आशा न करना ।

राधेश्याम ने खीझकर उत्तर दिया—सब समझ लिया है । करुणा कल जायगी, कल जायगी, पर अब यहां किसी तरह नहीं रह सकती ।—

इसके बाद वे करवट बदलकर लेट रहे। प्रेमलता पद-मर्दिता सर्पिणी सी क्रोध के कारण स्वामी के बच्चूपन को धिक्कारने लगी।

[चार]

कल्या प्रात से ही भाई के साथ जाने का आनन्द से उछल रही थी। उसके अबोध अन्तःकरण में न जाने किसने यह बात कह दी थी, कि मामी के पास उसके अनाथ और दुखिया जीवन के लिये बड़ा सुन्दर आश्रय है। वहां पहुंच जाने के बाद उसके सारे क्लेश दूर हो जावेंगे। पर यह किसे मालूम था कि वहां पहुंचना ही एक दुष्कर बात है। उस अभागिनी बालिका की तुच्छ सी इच्छाओं को कुचल-कुचलकर डालने के लिये न जाने कितनी क्रूरताओं का संचय हो रहा था।

सवेरा होते ही जब ब्रजबिहारी ने राधेश्याम को पुकार कर कहा—वक्त हो गया है। कल्या को जल्दी भेजो। कल्या उस समय आंखों में आंसू भरकर चुपचाप नीम के अंधेरे सहन में मन मसोस रही थी। ग़रीब ने पड़ोसिन बुढ़िया की सहायता से कल ही अपने कपड़ों की एक छोटी सी गठरी बांध ली थी, उसी गठरी पर मुंह रखकर वह सिसकने लगी।

भेजता हूँ—कहकर राधेश्याम ने प्रेमलता से पूछा—कहां है, लड़की को तय्यार नहीं किया?

प्रेमलता—मैं क्या जानूं? तुम सब लोग उसके ज्यादा सगे हो। जरा जाकर पूछो तो कहती क्या है, वह उन अपने भाई के साथ

जाना भी चाहती है !

राधेश्याम—क्यों नहीं जायगी । उसे जाना पड़ेगा । तुम्हारी यह सब हरकतें मुझे पसन्द नहीं हैं । जाओ, जाकर जल्दी उसे भेज दो ।

प्रेमलता मारे क्रोध के रोने लगी, बोली—मेरी हरकतें हैं, तो तुम्हीं जाकर क्यों न ही भेज देते । मैं इस झमेले में नहीं पड़ती ।

उधर ब्रजबिहारी जल्दी कर रहे थे । राधेश्याम जी घर सजाकर बाहर निकल आये, और कहा—कुछ पता नहीं कल्या क्या कर रही है । मालूम पड़ता है, बच्चों में हिलमिल जाने से घर छोड़ने को उसका जी नहीं हो रहा । फिर पुकारा—कल्या ! कल्या ! बेटी, चल तो इधर !

कल्या सजल आंखों को झुकाये हुए धीमे पैर रखती हुई आकर खड़ी हो गई । गाड़ी का वक्त हो गया था । ब्रजबिहारी कल्या के गालों पर आंसू की धारें देखकर बोले—रोती क्यों है पगली ! चल तो चलने के लिये उतावली हो रही थी । अच्छा जा रो मत, मैं तुझे जबरदस्ती न ले जाऊंगा ।

ब्रजबिहारी तांगे पर बैठकर चल दिये । कल्या का संकोच, बिच्छु का डंक होकर, उसके शरीर में बुरी तरह घुस गया, पर अब क्या हो सकता था ।

[पांच]

ब्रजबिहारी अकेले लौट आये तब लक्ष्मी का हृदय ग्लानि और क्षोभ से दो टुकड़े हो गया । उसने मन ही मन भगवान द्वारकी के

उद्यत त्याग की भारी कल्पना करके उसे अपने मन के बाहर ठेल रखने का प्रयत्न किया। थोड़े दिनों में करुणा दया का पर्य्यायवाची कोश का एक शब्द मात्र रह गई।

कुछ महीनों के बाद ही लक्ष्मी के पुत्री पैदा हुई। उस समय हँसी करते हुए ब्रजबिहारी ने कहा—लो अब करुणा तुम्हारे घर ही में आ गई!—अपनी लड़की का नाम तुम यही रखना।

लक्ष्मी ने होठों के सामने उंगली खड़ी करके चुप करते हुए कहा—नहीं, वह नाम न लो!—ईश्वर न करे—

आगे के शब्दों को उसने अपनी जीभ से काटकर रोक लिया। इस नवजात कन्या को पाकर तो करुणा की सचमुच कोई जरूरत नहीं रह गई थी। लेकिन विधाता को यह कब मंजूर था। वह कन्या संध्या के तारा की तरह अपना प्रकाश दिखाकर शीघ्र ही अस्त हो गई। लक्ष्मी के प्राणों का यह आधार भी उससे पृथक कर लिया गया। इस नये दुःख से तो उसका जी किसी तरह समझाने न समझता था।

पत्नी का जी बहलाने के लिये ब्रजबिहारी काम का बहाना करके चुपचाप करुणा को लिवाने चले गये। सोचा था इस तरह एकाएक करुणा को ले आने से लक्ष्मी का जी हल्का हो जायगा। वे चाहे जैसे लोभी हों, अपनी लक्ष्मी के लिये लक्ष्मी का कदापि ख्याल नहीं करते थे। वही उन्हें प्राणों से मोहक थी। उसीसे उनका सोने का संसार बसा था।

ब्रजबिहारी राधेश्याम के यहां पहुंचे, पर अब वहां करुणा कहां

था। मालूम हुआ वह तो कुछ सात दिन हुए न जाने कहाँ गायब हो गयी। तब से बहुत कोशिश की गई पर कोई पता नहीं चला। ब्रजबिहारी मन ही मन बहुत दुःखी हुए, पर पता नहीं वह दुःख उनका करुणा के दुर्भाग्य के लिये था अथवा अपनी लक्ष्मी के भी बदलाव का साधन न हुआ पाने के लिये। जिस मित्र ने कृपा करके उनके कहने से एक अनाथ बालिका को आश्रय दिया था उससे किसी तरह का जवाब तलब करते उनसे न बना। सहन कर गये, पर भाई का मुँह न खुला। अनाथ लड़की का भाई बनकर उसके लिये कुछ करना ब्रजबिहारी जैसे व्यक्ति के लिए भयङ्कर अपमान था। वे चुपचाप लौट पड़े।

[छः]

लक्ष्मी ने करुणा के लिये जो धारणा बना ली थी उसमें अगर एकाएक वह आ जाती तो शायद लक्ष्मी तुरन्त ही उसे हृदय से न लगा पाती। पहली बार उसने आने से इन्कार कर दिया था, यह अभी वह भूली न थी। इसीलिये जब ब्रजबिहारी ने करुणा की दुःखद कहानी सुनाई, तो लक्ष्मी को प्रतीत हुआ, कि यही होना चाहिये था। किन्तु वह कठोर भाव स्थिर न रह सका। उसके स्थान पर शीघ्र ही करुणा की अवस्था का दयनीय चित्र खिंच कर रह गया और जैसे जैसे समय बीतने लगा करुणा के सम्बन्ध में जानने के लिये चिन्ता बढ़ती गई। अवसर दिन में बैठकर, रात में लेटकर, वह उस अभागी बालिका के अपरिचित भाग्य की बात सोचकर मन ही मन शोक से उद्वेलित हो उठती थी।

इन अनेक चिन्ताओं से घिरे रहने के कारण लक्ष्मी की दशा दिन-दिन बिगड़ने लगी। उसके सूखते हुए शरीर की मलिन छाया से डरकर ब्रजबिहारी भी अपनी बुद्धि पर खीझते और अक्सर सोचा करते—मैं ही तो करुणा को वहां छोड़ आया था। उस समय यदि लक्ष्मी की बात मानी होती तो आज यह कहां जाती ? उन्हें विश्वास हो गया था, कि लक्ष्मी की दशा बहुत कुछ करुणा के कारण खराब हो रही है।—इतने दिन बाद वे करुणा का मूल्य समझ पाये थे।

रामरतन को चिट्ठी लिखी। पुलिस में इत्तला करायी। अखबारों में छपवाया पर कहीं करुणा का पता न चला। इधर लक्ष्मी के स्वास्थ्य के लिये ब्रजबिहारी को उसे पहाड़ ले जाना पड़ा। वहां कई महीने बिताये पर कोई विशेष लाभ दिखाई न दिया। फिर वापस लौट आना पड़ा।

लौटते ही उन्हें एक चिट्ठी मिली। चिट्ठी करुणा की ओर से किसी ने लिखकर भेजी थी। करुणा घर छोड़कर दूर न भागी थी। प्रेमलता ने ही अपने मामा के यहां देहात में उसे भेज दिया था। उस सम्बन्ध जिक्र करते हुए लिखा था, जल्दी चले आओ नहीं तो वे लोग उसकी बलि दे देंगे। प्रेमलता के मामा के एक लड़का है—वह पागल है। विवाह संस्कार द्वारा उसके पागलपन का भूत उतारने के लिये करुणा को लाया गया है। करुणा का जीवन नष्ट करके उसे उबारा जायगा। अभागी करुणा कहती है आप उसके भाई हो, यदि वह न भी हो तो मनुष्यता के नाते करुणा के उद्धार का कोई उपाय करना आवश्यक है। समय बहुत थोड़ा है, आपको आठ दिन के अन्दर ही आ जाना चाहिये। इसके बाद करुणा

न मिल सकेगी। एक अभागी अबोध बालिका का भविष्य आपके हाथ में है; वह अभी विवाह का अर्थ भी तो नहीं जानती। जिस पागल के डर से उसे मूर्छा आ जाती है, वही उसका पति होने जा रहा है। उसकी दशा देखने से ही उसकी करुणा का अन्दाज़ हो सकेगा।

पत्र पढ़कर ब्रजबिहारी हताश हो गये। आठ दिन का समय दिया गया था, पर चिट्ठी को आये पूरे तीन महीने हो चुके थे। अब क्या किया जा सकता था। राधेश्याम की धोखेबाज़ी पर दाँत किटकिटा कर वे न जाने क्या-क्या बक गये। उसी क्रोध के दुर्निवार आवेग में उन्होंने राधेश्याम को मुकदमा चलाने की धमकी देते हुए एक कड़ा पत्र लिखा और घर की उचित व्यवस्था करके करुणा की खोज में देहात को चल दिये। अभी तक लक्ष्मी को उन्होंने कुछ भी नहीं बताया था।

[सात]

ब्रजबिहारी देहात पहुँचे। बहुत कोशिशें कीं पर इससे ज्यादा पता न लगा कि करुणा ब्याह से पहले ही से लापता है परन्तु उन्हें इस पर रत्ती भर विश्वास न हुआ। निराश होकर लौट आये। राधेश्याम घर पर पहले ही से मौजूद थे, आते ही उन्होंने अपनी निर्दोषता के अनेक प्रमाण भी दिये, पर करुणा के विषय में वही बात कही।

एक दिन अकस्मात् संध्या समय मेरे घर को दो-तीन लड़कियों के साथ करुणा आ पहुँची। किस तरह अनेक कष्टों को सहती हुई वह उन्हें मार्ग में मिल गई थी, यह बतलाकर वे लौटने लगीं तो ब्रजबिहारी ने उन्हें

अनेक धन्यवाद दिये।

करुणा सचमुच इन केवल दो मासों में करुणा की पात्री हो गई थी। शरीर की एक-एक हड्डी निकल आयी थी।—ब्रजबिहारी सजल नेत्रों से प्यार के साथ उसे भीतर ले आये।

लक्ष्मी ने सुना करुणा आयी पर अब उसे देखने का जरा भी चाव शेष न था।

उसने स्वामी से यह भी नहीं पूछा कि इसे किसने बुलाया? यह क्या करने आयी है? पर उस छोटी सी स्नेहवञ्चिता बालिका को परमात्मा ने काफी बुद्धि दे रखी थी। उसने न समझ कर भी जैसे लक्ष्मी के मन का भाव, उसका रूठना अच्छी तरह समझ लिया। किसी पुरातन संस्कार से जाग्रत होकर उसे लक्ष्मी के मन में बसे निभृत प्रेम के सरल रूप के दर्शन करा दिये।

बरसों साथ रहकर भी ब्रजबिहारी जिस लक्ष्मी के केवल बाह्य सौंदर्य पर मुग्ध हो सके थे, उसी के अन्तःसौन्दर्य को एक ही दृष्टि में अबोध करुणा ने भली भांति परख लिया।

ब्रजबिहारी पत्नी की सेवा-शुश्रूषा में जगे रहने के कारण थक गये थे। वे आरामकुर्सी पर झुक कर सो गये। करुणा बराबर चारपाई के पास बैठी रही।

रात्रि के शेष भाग में जब लक्ष्मी ने आंख खोलकर देखा तो क्षीणांगी करुणा उसकी चारपाई के पास निश्चल होकर बैठी थी। अब लक्ष्मी से किसी तरह न रहा गया। हाथ बढ़ाकर उसे अपनी गोद में खींच

लिया । दोनों के हृदयों का चिरसञ्चित सलिल इस मौनमिलन में बहकर एक हो गया ।

उषा की उज्ज्वल-प्रकाश रेखा में चिरन्तन स्नेह का यह अपूर्व दृश्य देखकर ब्रजबिहारी ने अलसित पलकों को इसलिए बन्द कर लिया कि उन्हें और कुछ देखने की इच्छा नहीं रह गई थी । सहसा कानों में वत्सला के मृदु कण्ठ की आवाज पड़ी—'भाभी !

लक्ष्मी इस स्वर से सिहर गई । उसे लगा कि जन्म-जन्मान्तर से वह इस स्नेह सिक्त सम्बोधन की प्रतीक्षा कर रही थी ।

भविष्यवाणी

अठारहवीं सदी के सन्ध्याकाल में फ्रांस के मार्तिनिक नगर में एक लड़की रहती थी। ऐसी सुन्दर जैसे गुलाब का फूल, ऐसी कोमल जैसे मृणाल की शाखा। उसका नाम—हाँ उसका नाम था जोसेफाइन।

वह एक अफसर की लड़की थी। उसने खाना और कसीदा काढ़ना यही दो काम सीखे थे। उसका कण्ठ गाने ही के लिये ढला था। उसकी उँगलियाँ उलझे हुये रेशमी धागे सुलझाने के लिए ही बनी थीं। और बातों से उसे उतना ही काम था जितना चाँद सूरज से।

वह पन्द्रह साल की थी, जब एक दिन एक बूढ़ी स्त्री ने आकर उसे देखा। बूढ़ी भविष्यकथन में पारंगत थी। उसने बतलाया—तेरा ब्याह दो बार होगा।

लड़की का मुँह लज्जा से लाल हो गया, पर उसकी आँखें कौतूहल से नाच उठीं। आगे सुनने के लिए वह मग्न होकर बैठी।

बुढ़िया ने बताया—पहली बार इसी नगर के एक भद्र पुरुष से तेरा विवाह होगा पर वह तेरे साथ नहीं रह सकेगा। वह तुझे छोड़कर चला जायगा, और अमानुषिक तरीके से उसकी मृत्यु होगी।

जोसेफाइन का चेहरा व्यथा से काँप उठा। स्त्री-सुलभ समवेदना का भाव उसके सारे अवयवों से साफ झलकने लगा, पर बुढ़ी इस ओर ध्यान न देकर कहती गई—उसके बाद तेरा दूसरा ब्याह होगा। यह संबंध एक श्यामले और गरीब युवक के साथ होगा। वह यूरोपीय लोगों के ही वंश का होगा। उसका बड़ा लम्बा कलेवर। वह अपनी अमर कीर्ति से संसार को भर देगा। तब तू एक बहुत बड़ी स्त्री हो जायगी। तेरा पद साम्राज्ञी से भी अधिक होगा। इस तरह संसार को अपने महान् अभ्युदय से चमत्कृत और स्तम्भित करने के उपरान्त तेरे जीवन का करुण अध्याय प्रारम्भ होगा और उसी अवस्था में तू इस लोक से प्रस्थान करेगी।

थोड़ी देर के लिये जोसेफाइन निश्चल प्रतिमा की तरह बैठी रह गई। वह कुछ भी स्थिर न कर सकी कि उसे प्रसन्नता हुई है या दुःख। एक तरह का मानसिक भार उसकी चंचलबुद्धि के कन्धे पर असह्य बोझ लेकर आ बैठा। उसका जीवन उसी के सामने एक अद्भुत प्रपञ्च समझ पड़ा।

[ख]

बहुत दिन नहीं गुजरे कि जोसेफाइन के माँ-बाप ने एक युवक के साथ उसका विवाह तय किया। युवक उसी नगर में रहता था। वह देखने में सचमुच भव्य था। भविष्य कथन का पहला अंश यहीं से पूरा हो चला। उसके बाद बेचारी जोसेफाइन को यह भी मालूम होते देर न लगी कि उसका अगला अंश भी अपनी अमिट यथार्थता का सार्थक करने

के लिये अवसर आ रहा है ।

उसका पति उसे पेरिस ले गया । वहां जाकर उसने उसको अनेक कष्ट दिये । हर तरह से सताया और अन्त में बेचारी को ठगा के लिये त्याग दिया । वह उस अबला को निराश्रय और अकेला छोड़ गया । उस समय पेरिस में ऐसी असाधारण सुन्दरी नवयुवती का अकेली रहना निरापद न था । उसके निष्ठुर स्वामी ने यह भी सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि अकेली जोसेफाइन जीवन के अस्तव्यस्त हंगामों और गदरों के बीच अपनी रक्षा किस प्रकार कर सकेगी ? इसके कुछ ही वर्ष बाद फ्रांस में राज्य-क्रांति का सूत्रपात हुआ और उसमें जोसेफाइन के इस नर पिशाच पति को प्राणदण्ड हो गया ।

मृत्यु के बाद भी वह एक दुःख इस अबला के लिए छोड़ ही गया। उसके ऊपर राज्य-क्रांति का सन्देह हुआ और वह कारागार में बन्द कर दी गई । उसके साथ वहां और भी वैसी ही दो चार स्त्रियां थीं । वे सभी हताश और दुःखी हो रही थीं । जोसेफाइन ने उन्हें धैर्य बंधाया । अपने सम्बन्ध में उसने उनसे कहा—बहिनो ! विश्वास करो मैं किसी तरह मर नहीं सकती । मैं फ्रांस की सम्राज्ञी बनूंगी ।

स्त्रियां इस युवती की अलौकिक महत्वाकांक्षा पर मन ही मन आश्चर्य कर रही थीं ।

कारागार में भी भविष्य की सुन्दर कल्पना से उसका हृदय प्रफुल्लित रहता था । उसने बड़े से बड़े कष्टों को सहकर भी बड़ा साहस

नहीं खोया । आखिर एक दिन वह मुक्त कर दी गई । वह जिस स्वाधीन जीवन की आशा से युक्त थी, वह अनन्त कष्ट, असंख्य असुविधाएं और गरीबी के मुश्किल से कटनेवाले दिन लेकर उसके सामने आ पहुँचा, पर उन तमाम यन्त्रणाओं ने भी उसे विचलित न कर पाया, वह असीम साहस और अटल दृढ़ता के साथ उनका मुकाबला करती रही ।

[तीन]

पेरिस के एक छोटे से मकान में अनुपम सुन्दरी बालिका जोसेफाइन वैधव्य के दिन बिता रही थी । उसके शरीर और उसके साज सामान से गरीबी और दुःख की छाप लगी हुई स्पष्ट मालूम पड़ती थी, पर इस समय भी उसके अन्तःकरण में भविष्य की एक उज्ज्वल प्रकाशरेखा जगमग रही थी, जो बाहर से अदृश्य थी । उसी, केवल उसी अवलम्ब के सहारे वह हतभागी विधवा अब तक साहस की मूर्ति बनकर जीवित थी ।

एक दिन उसके द्वार पर खटखटाकर एक फौजी सिपाही ने पुकारा । जोसेफाइन ने आकर पूछा—क्या काम है ?

सिपाही—हमारे जनरल साहब ने आपको स्नेहाभिवादन के पश्चात् यह तलवार भेजी है । तलवार आपके स्वर्गीय स्वामी की है । आप इसे ले लीजिये ।

जोसेफाइन ने तलवार ले ली । जनरल की इस असाधारण अनुग्रह और भावुकता पर उसका हृदय निछावर हो गया । उसने मन ही मन निश्चय किया कि वह स्वयं जाकर इस कृपा के लिये जनरल को धन्यवाद

देगी । उसके दुःखी जीवन में धन्यवाद के सिवा और प्रत्युपकार था ही क्या !

*इस जनरल का नाम शायद नैपोलियन बोनापार्ट बतलाया गया था

[चार]

जनरल की इस कृपा ने जोसेफाइन के हृदय को कृतज्ञता से भर दिया था । वह उसकी विचारशीलता और सहृदयता पर धन्यवाद देने के लिए उसके यहाँ जा पहुँची ।

जनरल इस सौन्दर्य राशि को आगन्तुक के रूप में देखकर भावुक हो गया । उसकी अदा, उसका कोमल कण्ठ-स्वर, उसका रूप लावण्य उसे बड़े ही मधुर और प्रिय मालूम हुए । वह उसकी हर एक बात पर इस कदर मुग्ध हो गया कि वह अक्सर उसके घर आने जाने लगा । कृतज्ञता ने पहले ही से प्रेम तैयार कर रक्खा था । उन दोनों में शीघ्र ही प्रेम हो गया, और दो तीन महीने भी नहीं बीतने पाये कि वे विवाह के पवित्र सूत्र में आबद्ध हो गये ।

जोसेफाइन का यह दूसरा विवाह एक श्यामवर्ण और साधारण आदमी से हो गया, लेकिन यह विवाह प्रेम का था, इसलिये वह सुखी थी ।

पर किसे मालूम था कि विधाता कितनी जल्दी उसके इस सुख को छीन सकता है । दुर्भाग्य से उनका प्रथम मिलन केवल बारह रातों में समाप्त हो गया । विवाह के बाद ही नैपोलियन को इटली में फ़ौज लेना

का संचालन करने के लिए जाना पड़ा। इसी बीच में नेपोलियन का यश चारों ओर फैला, लेकिन बराबर उसे अपनी प्राणप्यारी सुन्दरी तरुणी पत्नी की याद व्यथित करती रही। जब जोसेफाइन से अलग रहना उसे असह्य हो गया तो उसने उसे वहीं बुला भेजा। इसके बाद फिर नेपोलियन का नाम विश्वविख्यात हो गया, और उसके साथ साथ जोसेफाइन की कीर्ति पताका भी सर्वत्र फहराने लगी।

[पांच]

आखिर वह दिन भी अपने अनुपम आलोक को लेकर आया, जब शाही गिरजाघर की पवित्र और आलीशान दीवारों के भीतर फ्रांस के सम्राट् नेपोलियन बोनापार्ट की बगल में घुटनों के बल झुककर जोसेफाइन ने प्रार्थना की।

नेपोलियन के राज्यारोहण के साथ वह फ्रांस की सम्राज्ञी उद्घोषित की गई, वह यथार्थ सम्राटों से भी अधिक थी, वह दुनिया के सबसे बड़े सम्राट की हृदयेश्वरी थी।

अभी उस भविष्य-कथन का अवशिष्ट अंश भयंकर विडंबना के रूप में आने को शेष था। जोसेफाइन ने देखा, किस तरह नेपोलियन के अन्दर उसके प्रति धीरे धीरे उपेक्षा का भाव भर रहा है। यद्यपि अब भी उसके अपूर्व सौंदर्य से उसका दरबार आलोकपूर्ण हो जाता था, उसके आकर्षण की बिजली तमाम लोगों को मुग्ध कर देती थी।

अन्त में उसने उस दारुण दिन—ईर्ष्या, व्यथा और हृदयहीनता

के साथ त्याग दिया था एक स्त्री के लिये इस से कठोर आघात है !—एक बार फिर जोसेफाइन अचेत हो गई ।

नैपोलियन ने खुद ही इस कारण बतलाया । उसने कहा—मैं तुम्हें प्यार करता हूं । तुम्हारे लिये मेरे हृदय में वही प्रेम-भावना है और सदा रहेगी लेकिन विवश होकर मुझे अपने लिये नहीं बल्कि इस साम्राज्य के सुख के लिये, तुम्हें तलाक देनी पड़ रही है । उसकी रक्षा के लिये उत्तराधिकारी की जरूरत है और जोसेफाइन ! तुम यही मुझे नहीं दे सकती ।—मैं विवश हूं । मैं कुछ नहीं कर सकता ।

परित्यक्ता जोसेफाइन इसके बाद पांच साल तक और जीवित रही, लेकिन उसने कभी एक क्षण के लिये भी नैपोलियन के विरुद्ध कुछ नहीं कहा ।

वह सदा उसकी मंगलकामना ही करती रही । उसका विजय-समाचार सुनने के लिये वह सदा उत्सुक रहती थी । अन्त समय तक उसकी प्रसन्नता में ही उसने अपने सुख को खोजा था ।

उस दिन के भविष्यकथन को पूरा करके वह वाटरलू की पराजय से पहले ही अनन्त धाम को चली गई । हतभागिनी सुन्दरी जोसेफाइन ।

यात्रा

मैं बाहर से आकर कमरे में बैठ गया। मेरी संभावना के प्रतिकूल भीतर से किवाड़ खोलकर ऊर्मिला मेरे पीछे खड़ी होकर हंसने लगी। मैंने चौंककर देखा, तो वह कहने लगी—वाह, दूर रहकर तो दूर रहने का बर्ताव किया जा सकता है, पर मुंह के सामने रहकर आंखें चुराने की चाल भी चल सकती है कहीं!

मेरे तन-बदन में आग लग गई। क्या आज मुझे पथ का भिखारी बनाकर ऊर्मिला के पिता को संतोष नहीं हुआ, जो इस तरह मर्मपूर्ण वाक्यवाणों का प्रयोग करने के लिये उसे भेज दिया है।

वह मेरी ओर और चोखा निरखकर बोली—मालूम पड़ता है आज मैं अजनबी हो गई हूँ? अगर नहीं, तो आठ दिन से यहां आकर भी घर न आने का क्या जवाब रखते हैं!

किसी निराश हृदय पर गत स्मृति का जो आघात होता है, वैसी ही एक तरह की चोट मेरे हृदय पर लगी। मैंने बहुत सख्त होकर जवाब दिया—यही मैं भी तो पूछ सकता हूँ। मैं अनेक झंझटों में फंस रहा था, पर आप ही ने अब तक आने का कष्ट क्यों नहीं किया?

अब की बार वह मेरे पास ही पृथ्वी पर बैठ गई, और अत्यन्त

को चिढ़ाती हुई कहने लगी—यह दोष भी मुझे नहीं दिया जा सकता। मैं तो आज अभी कुम्भाश्रम से लौट रही हूँ। सुनते ही देखने चली आई। सच कहना, क्या भूलकर भी तुमने इस तरह मुझे देखने इच्छा की थी? तभी तो—

मैंने देखा तो नहीं पर कह सकता हूँ कि मेरे फड़कते हुए होंठ शांत हो चुके थे। अपनी तमाम पैतृक जायदाद हारकर मैं सताए हुए सांप की तरह क्षुब्ध और निराश होकर कचहरी से लौटा था। मैंने समझ लिया था कि मेरे वैभव का सितारा आज अस्त हो गया, और अब मुझे अपना हितैषु समझनेवाला संसार में चाहे हो भी पर अपने जन्मस्थान में तो कोई नहीं रह गया है।

मैंने उर्मिला से कहा—मुझे सचमुच इन आकस्मिक झगड़ों के कारण किसी का स्मरण करने की फुरसत नहीं थी। आशा है, इसे क्षमा कर दोगी।

उर्मिला—मैं इस बात की शिकायत ही कब करती हूँ।

मैंने नौकर को आवाज देकर पानी लाने को कहा और पास रक्खी हुई एक किताब के पन्ने उलटने लगा।

उर्मिला पानी मैं लिये आती हूँ कहकर चली गई और एक गिलास में पानी और तश्तरी में कुछ मिठाई लाकर मेरे पास खड़ी हो गई और हँसते हुए बोली—मैं देखती हूँ बहुत सी बातें तो बदल गई हैं पर अभी किताबों को उलट-पलट करना ही सूझा। इस व्यवसायविरहित पुस्तकावलोकन की बुरी आदत से कई बार मेरे हाथों में दर्द हो चुका है। आज

मैं उसी तरह देर तक खड़ी नहीं रह सकती ।

मुझे कई बरस पहले की उर्मिला का ध्यान आ गया । उस समय मैं और वह सगे भाई बहन की तरह रहते थे । मैंने अपनी सजल आँख को नीचा कर लिया, पुस्तक बन्द करदी और उर्मिला से कहा—कोई कुसूर तो किया नहीं है, फिर भला खड़े रहने की सजा कैसे दे सकता हूँ ।

उर्मिला ने बिना कुछ जवाब दिये तश्तरी मेरे आगे रख दी । मेरा शरीर आनन्दोन्माद से सिहर उठा । वह मिठाई थी ऐसी श्रद्धा-भक्ति से दिया गया विषपात्र भी कौन अमृत का घूंट नहीं समझेगा । मेरे होठ मेरे अन्तरोल्लास को छिपा न सके, मैंने स्नेह गद्‌गद् होकर उर्मिला से कहा—अजी, मैंने तो पानी के लिये कहा था, और भला यह मिठाई किसने बताई है ।

उर्मिला ने हल्की मुस्कान के साथ कहा—मिठाई किसको कितनी अच्छी लगती है, यह बात इस घर में एक दिन का आया हुआ मेहमान भी अच्छी तरह जानता होगा, फिर मैंने गलती की हो, ऐसा विश्वास नहीं होता । घर की मैं कौन सी चीज नहीं जानती हूँ । मेरे गुच्छे में अभी दो चार ऐसी चाबियाँ पड़ी होंगी जिनसे चाहूँ तो सारे बक्सों की तलाशी ले सकती हूँ ।

मैंने हँसकर कहा—मिठाई न खाने का अपराध अगर खानेवालाका हो तो मैं अभी उसे उड़ाए जाता हूँ पर उर्मिला अब मेरी मिठाई खाने की वह आदत बिल्कुल ही छूट गई है । बाहर रहता हूँ । वहां न इस तरह कोई खिलाता है, न वह पश्चाताप ही रहा है । अब तो व्यवहारतः मैं

नमकीन ही पसन्द करने लगा हूँ ।

उर्मिला—हां समय और परिस्थिति से स्वभाव भी बदल सकता है ।

मैंने मिठाई खाई । जल पिया । उर्मिला ने आकर मुझे बीड़ा दिया और कहा—कल हमारे यहां आना होगा । अगर बुलाने की फिर जरूरत हो तो अभी से कह दीजिये । मैं सवेर नौ बजे प्रतीक्षा करूंगी ।

मैं—अरे यह क्या कहती हो ! यहां वहां सब एक ही तो है । और कल तो ...

उर्मिला—नहीं, अब बहुत देर हो गई है और किसी तरह के बहाने सुनने और उनका निर्णय करने की मुझे फुरसत नहीं है । मैं इतना ही कहे जाती हूँ कि कल सवेरे आना ही पड़ेगा ।

उर्मिला चली गई ।

[घ]

शाम हुई । पूर्णिमा का उजाला फैला । मेरे हृदय-समुद्र में यौवन की लहरें उमड़ने लगीं । चन्द्रमा में सचमुच सुधा है, और उसकी किरणों में जादू । मेरे जीवन के खारी और फेनिल वातावरण में किसी अनिर्वचनीय अमृत की वर्षा हुई है ।

मेरे जीवन की सबसे निराश और दुःखमय घड़ियों में ऐसी सुखद सुखानुभूति का अवतरण आरम्भ हुआ जो वास्तव में किसी सिद्धकवि की अमर लेखनी की सुमधुर कल्पना में ही संभव है । पूर्णिमा की चन्द्रयामिनी

लक्ष्मी ने मेरे गले से अपनी बाहें खींच ली थी, और मुझे आनेवाली गंभीर रात्रि के अनन्त अन्धकार की ओर ठेल दिया था। गृह से निर्वासन समाज से बहिष्कार मित्रों से उपेक्षा और सुजनों में उदासीनता—आह ! मेरे बाकी जीवन में इनके सिवा और रह ही क्या गया था पर आज उन मित्रों की कडुवाहट में उर्मिला ने थोड़ी सी मिश्री की डलियां छोड़कर अपूर्व मिठास पैदा करदी।

प्रबल आंधी में वृक्षों के रसीले फल झड़ जाने से वास्तविक दुःख माली को ही होता है वृक्षों के चार दिन के मेहमान पक्षियों को नहीं। नौकर चाकर और स्वार्थी मित्र भी वही पक्षी हैं। मेरे पास अब कुछ नहीं रह गया है उन्हें अब कहीं अन्यत्र आश्रय खोजना चाहिये शायद इसलिए किसी को भी नींद नहीं थी। सब अपने अपने बिस्तरों पर करवटें बदल रहे थे। मैं सोच रहा था कि उर्मिला के घर जाने का मुझे अधिकार अब कहां है। एक अकिञ्चन की तरह आतिथ्य स्वीकार करूंगा। नहीं, यह नहीं हो सकता। अब वे लाग मेरे कौन हैं ! दरिद्रजीवन गौरव की वस्तु है पर अपमानित जीवन को कुबेर का खजाना पाकर भी रखने की शक्ति मुझे नहीं है।

रात को देर से सोया था, पर सवेरे जल्दी ही नींद खुल गई। कोई काम था ही नहीं, मैं बाहर टहलने चला गया।

खूब घूम कर लौटा। रेल, रेल की पटरी, किसानों के खेत सब पार करके शहर के किनारे तक चला गया था। बहुत दिनों बाद ये सब चीजें देखने को मिली थीं। कौन जाने फिर कभी उन लोगों से बातें हो

उर्मिला! बड़े भले किसान हैं। वे अपने जीवन के तमाम रहस्य को सूर्य के प्रकाश की तरह खोलकर रख देते हैं, इसलिये हम उन्हें भोला, अज्ञानी कहते हैं। वे सत्य और झूठ को बिना पक्षपात के नापते हैं, हम लोग उन्हें कुशलता से पथ बहा देते हैं। उनकी सरलता मूर्खता समझी जाती है और हमारी छद्मवेशी चतुरता के गले में सभ्यता का सुनहला तौक पड़ा है। पर मेरा अब अपनी प्रेरणाभूमि से सदा के लिये नाता टूट रहा है। जीवन की अमावस्या में यहां रहकर उदरपूर्ति करनी होगी जहां संसार के स्वार्थों का विकट हास्य हो रहा है।

बच्चे ने पीछे से भी बुलाए। मैं मुड़कर दूसरे रास्ते से जाने लगा पर यह सोचकर कि रास्ते पर तो किसी का अधिकार नहीं है। इधर से ही जाऊंगा। उर्मिला मुझे पकड़ तो लेगी नहीं।

बहुत वर्षों बाद मैं उधर से निकला। मकान बिलकुल ही नये ठाठ का बन गया था। उन नये-नये दरवाजों पर मेरी नजर पड़कर आपही अपनी हीनता का अनुभव कर रही थी। तीसरे दरवाजे में सामने की ओर मुंह किये हुए उर्मिला बाल खोले खड़ी थी। मेरी सारी दृढ़ता और प्रतीक्षा की जड़ में कंपकंपी होने लगी। उसने मुझे अच्छी तरह देख लिया। मैंने उसके स्वागत की पुकार का टेर पड़ने के लिये पीठ को थोड़ा संकुचित कर लिया, पर कोई आशापूर्ण प्रहार नहीं हुआ और मैं पहले से भी बहुत धीरे धीरे दूर चला गया। अपमान की ज्वाला जल गई। मन में ग्लानि आई। मैं घर आ गया।

नौकर को बुलाकर पूछा। उसने कहा—कोई भी तो नहीं

आया था ।

उसकी बातों पर मुझे विश्वास नहीं हुआ । एक दिन दो दिन तक प्रतीक्षा की पर कोई नहीं आया । धीरे धीरे उर्मिला के आने की बात स्वप्न की तरह धुंधली हो गई ।

[तीन]

आज कई वर्ष बाद चाची गंगादेवी को देखा । झटपट उठकर मैंने उनके पैर छू लिये । उन्होंने मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए 'बड़ी उमर हो'—कहकर आशीर्वाद दिया ।

न मालूम क्यों मुझे अपराधी की भाँति उनके सामने कुछ भी कहते सुनते न बन पड़ा ।

उन्होंने मेरी मानसिक विकृत अवस्था को अच्छी तरह समझ लिया । वे अपनी चादर को एक ओर खूंटी पर रखकर बोलीं—केशव ! तूने जाने की तैयारी करली है क्या ?

मैं—चाची तुम तो सब जानती ही हो । भला यहां रहकर मैं क्या करूंगा ?

चाची—ठीक है पर इस बार अपनी चाची से भी कोई सलाह लेने की आवश्यकता नहीं समझी गई ।

मैं—इसका मुझे खेद है । कई बार मन में आया कि आऊं किन्तु···

चाची—मेरे पास आने में तो कोई संकोच की बात नहीं थी ?

मैं—इस भूल को भी मानता हूँ ।

चाची—अब मैं तुमसे कहने आई हूं कि कहीं जाने का इरादा छोड़ दो।

मैं—इस आज्ञापालन का मैं कोई उपाय नहीं देखता।

चाची—उसके लिये तुम्हें चिन्ता नहीं करनी होगी। मैं सब कर लूंगी। तुम केवल अपने बिस्तर खोलने के लिये नौकर से कह दो।

मैं—मालूम पड़ता है, अभी आपको परिस्थिति का ज्ञान नहीं है।

चाची—मैं जानती हूं। बड़े चाचा ने अपने बाद कर्ज के अलावा तुम्हारे मिलाने के लिये कुछ नहीं छोड़ा है।

मैं—हां और समाज में भी मेरे लिये जगह नहीं है।

चाची—अभी तुम बच्चे हो। जिन बातों में तुम निराशा का समुद्र देखते हो, वहां बहुत थोड़ी मेहनत से सुगम मार्ग बन सकता है।

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। चाची मंगलादेवी पर मेरी बचपन से अपार श्रद्धा थी पर मैंने मन में निश्चय कर लिया कि अब मेरा किसी तरह यहां रहना नहीं हो सकता।

चाची ने फिर कहा—जिस दिन अपने पिता के साथ तुम यहां से गये थे, उस दिन अवश्य मैं तुम्हारे न जाने का हठ नहीं कर सकी थी। आज वैसा नहीं होगा। मैंने उर्मिला के द्वारा भैया से कहला दिया है, अब मैं यहीं आकर रहूंगी। वैसे तो मेरा इरादा बद्रीनाथ पुरी और रामेश्वर जाने का था लेकिन जब अपना बिछुड़ा हुआ बच्चा आकर मिल गया है तो मेरे लिए यही तीर्थ है। क्या यह उचित है, कि मेरा बच्चा इधर उधर भटकता फिरे और मैं तीर्थ करती रहूं। ऐसे तीर्थ को मैं पुण्यकार्य नहीं समझती।

जिस काम के करने से आत्मा को शांति मिले वही परम धर्म है । जिस दिन वृन्दावन में मुझे समाचार मिला कि तुम यहां आ गये हो, उसी दिन मैं उर्मिला को लेकर चली आई ।

मैं सोचने लगा ।—जिस तरह उस दिन मीठी मीठी बातें करके उर्मिला मुझे धोखा देकर मेरा अपमान कर गई थी, कहीं उसी तरह आज उसकी बुआ भी तो चाल नहीं चल रही है । इस समय मैं यह भूल ही गया कि मैं अपनी चाची के बारे में सोच रहा हूं ।

चाची को किसी ने बाहर से बुलाया और वे उठकर चली गईं ।

[चार]

उसी दिन से चाची आकर मेरे साथ रहने लगीं । एक दिन सवेरे ही उन्होंने मुझ से कहा—तुम्हारी सालगिरह आगी क्या क्या करोगे ?

मैं—जीवन की एक साल और व्यर्थ चली गई उसका प्रायश्चित, कैसे कहानी कर लिया जायगा । अच्छा तो यही हो कि उसी दिन चलकर हम विश्वनाथ के दर्शन करें । फिर वहीं से पुरी और रामेश्वर चलें ।

चाची—अवसर नहीं आया है । आ जायगा उस दिन मैं पूछूंगी नहीं ।

मैं—प्रस्थान कर जाओगी और मुझे साथ न ले चलोगी ?

चाची—जब मैं जाने लगूंगी तब शायद तुम्हारी यह हठ भी चला जायगा ।—अच्छा तो इस समय तो यह तय करना है कि क्या किया जायगा ?

बंध]।

मैं—चाची इस विषय में मुझसे कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं।

मेरी तो समझ ही में यह बात नहीं आई कि इतना बड़ा आयोजन अकेली चाची ने घर के भीतर बैठे बैठे किस तरह कर लिया ? गाजे बाजों से, लोगों के आने जाने से, बेहिसाब दावतों से दो तीन दिन के लिये घर रंग भूमि सा मालूम पड़ने लगा।

इस तमाम रास-रंग में उर्मिला के एक बार भी दर्शन न हुए। मैंने समझा चाची ने उसके यहां बुलावा नहीं भेजा होगा। यह बात मुझे अज्ञात रूप से बराबर खटकती रही।

कई दिन बाद मैंने चाची से पूछा—क्यों चाची, मालूम पड़ता है उर्मिला के यहां किसी का भेजना ही भूल गई।

यह बात मैंने कह तो दी, पर मुझे विश्वास था चाची से ऐसी भूल होनी संभव नहीं है। उनके यहां से खुद ही कोई नहीं आया होगा।

चाची ने कहा—मैंने जानबूझकर बुलावा नहीं भेजा था।

जवाब मेरी संभावना के प्रतिकूल था, इसलिए मैंने पूछा—क्यों ?

चाची—जिसे अपने घर बुलाने के वे विरुद्ध थे उसके घर कैसे आवेंगे ?—यही सोचकर नहीं बुलाया।

मैं—नहीं, मैंने योंही पूछा था।

चाची—मैं भेद की आदत समझती हूं। उस दिन भी जब उर्मिला तुम्हें न्योता दे गई थी तो उन्होंने ही रोक दिया था।

मैं—मैंने तो पहले ही उर्मिला को रोका था। उसके लिए मानापमान की चर्चा ही व्यर्थ है। आपने जो नहीं बुलाया यह अच्छा ही

किया । उन्होंने हमारे साथ सब व्यवहार भी तो अच्छे ही अच्छे किये हैं ।

[पांच]

भाभी ने मुझे भोजन के लिये पुकारा । मैंने जाकर स्नान-भोजन किया । पर उस दिन भाभी से किसी तरह की कोई बातचीत नहीं हुई । शाम को मैं घूम कर लौटा तो मालूम हुआ भाभी उर्मिला के घर गई हैं ।

मैंने पूछा—क्या कोई बुलाने आया था ?

हां कोई बुला ले गया है, पर कौन था इसका पता नहीं ।

मेरे मन में अनेक तरह की कल्पनाएं उठती रहीं पर मैं यह निश्चय न कर सका कि भाभी के वहां जाने का क्या कारण है ? जरूर उसी सम्बन्ध में बुलाया होगा, पर क्यों ?

भाभी रात ही को आ गई थीं पर मुझे मालूम नहीं हुआ । दूसरे दिन उन्होंने बतलाया कि उर्मिला अस्वस्थ हो गई थी ।

मैं चुप रहा ।

एक दिन मैं भाभी के पास बैठा था । एकाएक वे बोलीं—मालूम पड़ता है विधि का विधान कुछ ऐसा ही है ।

मैंने पूछा—क्या हुआ भाभी ?

भाभी—देवर ! जब तू छोटा था, तब भी अकसर मेरे ही पास रहता था । तेरी मां ने एक तरह से तुमको मुझे सौंप दिया था । यदि दादा की बदली न हो जाती तो यह बीच का अलगाव भी न होता । यही बात उर्मिला की है । वह भी सदा से मेरी ही गोद में पली है । उसकी मां

केवल तुम खिलानेवाली थी। मेरे संतान न होने पर भी तुम दोनों के कारण मेरी गोद कभी खाली नहीं रही। तुम दोनों की माताएं एक बहुत बड़ी बात का भार मेरे ऊपर रखकर मर गईं। उनके रहते यह कुछ कुछ संभव भी थी, पर बीच में बिल्कुल ही असम्भव सी हो गई थी।

उनकी इच्छा थी कि तुम दोनों का ब्याह हो जाता और तुम सदा मेरे ही पास रहते, पर जिन परिवारों में सदा से ही बैर विरोध की बातें चली हों, वहां ऐसा साहस एक स्त्री कैसे कर सकती है? इसलिये अबतक मैंने कभी प्रयत्न नहीं किया पर अब मालूम पड़ता है कि उनकी इच्छा ही ब्रह्मा का विधान थी, तो बड़ी प्रसन्नता होती है।

मैं—पर भाभी, ऐसा तो कभी हो नहीं सकता।

भाभी—हमारे तुम्हारे चाहने से अवश्य नहीं होगा पर सम्भव है कि शायद उन स्वर्गीय आत्माओं की मनोकामना पूरी हो कर रहे।

मैं—ऐसी मनोकामना का न पूरा होना ही अच्छा है।

भाभी—देखा जायगा। यह तो विधाता के हाथ की बात है।

मैंने आगे कुछ न कहा, जाकर अपने कमरे में पुस्तकें पलटने लगा।

मेरे मन में भाभी के साथ हुए विवाद की उधेड़बुन शेष थी। अकस्मात् मेरे कलेजे में एक तीर सा आकर लगा। एक नौकरानी ने घबराए हुए स्वर में आकर भाभी से कहा—बीबीजी उर्मिला की हालत खराब है। तुम्हें बुलाया है।

भाभी—मैं जाकर पता कर लूंगी। ऐसी अभागी का मौत ही भा

जाय तो मैं पूछा दूंगी ।—अच्छा, कह देना आऊंगी ।

उर्मिला के लिये भाभी की यह मृत्युकामना मुझे अच्छी नहीं लगी, और यह भी अच्छा नहीं लगा कि वे क्यों देरी कर रही हैं । मेरे मन में आया, मैं खुद भी जाकर उसे देख आऊं, पर बहुत सी बातें रोक रही थीं ।

आखिर उस दिन भाभी नहीं गईं । दूसरे दिन गईं और थोड़ी देर में ही लौट आईं । मैंने पूछा, कहो क्या हाल है ?

भाभी—हाल क्या है, अच्छा ही है । मैंने तो कह दिया था कि ऐसी अभागिनियों का चुनाव मौत नहीं करती ।

मैं—भला, वह अभागी क्यों है, भाभी ?

भाभी—क्यों नहीं वह अभागी ही है । जहाँ सगाई लग रही थी, वहाँ भी अब न होगी । भाग्य अभाग्य इन्हीं बातों में देखा जाता है ।

मैं—सगाई क्यों न होगी ?

भाभी ने कुछ उत्तर नहीं दिया । केवल मेरी ओर एक सकरुण दृष्टि-निक्षेप भर कर दिया ।

मैंने फिर कहा—ब्याह कहीं न कहीं हो ही जायगा । इसे ही लड़की के दुर्भाग्य की निशानी समझ लेना ठीक नहीं है । उर्मिला तो''

भाभी—वह मरेगी नहीं अभी उसके अंग-प्रत्यंग में आत्मा का अंकुर मौजूद है । वह धीरे धीरे उसमें प्राण-संचार कर रहा है ।

[५]

उर्मिला तो अच्छी हो गई पर समाज के अयोग्य, और सौभाग्यी

की कामातुरी ने उर्मिला के पिता को शैयाग्रस्त कर दिया। बदनामी का रोग उनके शरीर में बड़ी निर्दयता से भिद गया।

उन्होंने धन-संचित संपत्ति देकर भी चाहा कि उर्मिला की, सगाई बाधा न हो पर एक भी न चली। जो बात उस दिन मैंने सुनी थी वही चर्चा तमाम लोगों में फैल रही थी। मन में एक बार आया कि मैं जाकर उस निर्मूल बात का खण्डन करके लोगों को शान्त कर दूं पर उर्मिला के पिता की पिछली करतूतों की याद आते ही वह भाव विलुप्त हो गया।

चाची को उर्मिला ने बुलाया। वे गईं और अपने भाई को देख आईं। उनसे मालूम हुआ कि उर्मिला शीघ्र ही अनाथ होनेवाली है। उसके पिता की यह अन्तिम बीमारी है। उनके हृदय पर बड़ा भारी मानसिक आघात हुआ है। अबतक वे जीवित हैं वह केवल एक संकल्प-विकल्प की बदौलत। कोई बात बराबर उनके मन में आती है पर वे अभी तक उसे स्थिर न कर सके हैं।

इसके आगे चाची ने कुछ नहीं कहा। मैं भी यह न समझ सका कि वह क्या बात हो सकती है।

दूसरे दिन एक नौकर भागता हुआ आया और कहने लगा—बीबी जी, भैया को जल्दी भेज दीजिये बाबूजी बुलाते हैं। तुम्हें भी बुलाया है।

चाची ने मुझे पूछा जाओगे? मेरी समझ में न आया कि क्या उत्तर दूं।

फिर चाची ने कहा—वे दो चार घड़ी के मेहमान हैं। अस्तु

समय भी क्यों बैर भाव मन में रखते हो। चले जाओ, शायद पुरानी बातों का पश्चाताप करें। मरने के समय मनुष्य की चित्तवृत्ति पवित्र हो जाती है।

मैंने कहा—अच्छा, जाता हूँ।

भाभी—हाँ, हाँ चलो मैं भी पीछे से आती हूँ।

वहाँ जाकर मैंने देखा उर्मिला के पिता मृत्यु-शैया पर पड़े हुए अन्तिम साँसें ले रहे हैं। पास ही पृथ्वी पर उन्मूलित लता की तरह उर्मिला पड़ी सिसक रही है। मुझे देखकर वह एक ओर खिसक कर बैठ गई पर शायद उस समय भी रो रही थी। रोगी ने निस्तेज नेत्रों से एक बार मुझे देखा। सोचकर मैंने संकोचात्मक मुद्रा में झुका लिया। तब उर्मिला के पिता ने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—अन्त समय भी मैं तुमसे एक दान चाहता हूँ।

मैं—मुझसे, दान!

रोगी—यही तो सोच रहा हूँ कि तुम दे सकोगे या नहीं।

मैं—आपने ऐसे लायक तो मुझे रक्खा ही नहीं।

रोगी की आँखों में आँसू आ गये। उसने कहा—यही तो मुझे नहीं मालूम था।

मैं—पर कहिये। ऐसे लायक होगा तो मैं इन्कार न करूँगा।

रोगी—तो इस लड़की को सहारा देना कि यह संसार में सुखी रह सके।

मैं—यह कौन बात है? यह तो घोर अन्याय है। यह भार मैं

कमा)

कैसे ले सकूंगा !—यह आशा तो मुझसे करनी व्यर्थ है।

रोगी—तुम्हारे सिवा इसका उद्धार और कौन कर सकता है। तुम्हीं इसका बेड़ा पार लगा सकते हो। बेटी उर्मिला, इधर तो आ।

उर्मिला ने पलंग के पास आकर मेरे पैरों पर सिर रखना चाहा, पर मैं हट गया। उसका सिर मेरे पैरों के बजाय पृथ्वी पर पड़ा।

इधर पिता ने दो हिचकियां लेकर दम तोड़ दी।

उर्मिला चीखकर पिता की लाश से लिपट गई।

मेरी समझ में न आया कि क्या करूं। मैं यही देखने लगा कि चाची कब आती हैं।—पर वे न आईं। निष्ठुर चाची!

मेरा नौकर दौड़ता हुआ आया और कहा—चाची आ रही थीं पर बीच ही में यह दुखद समाचार सुनकर लौट गई हैं।

शव का अन्तिम संस्कार करके लौटने लगे तो उर्मिला पिता की अस्थिचित चिता की ओर यह कहती हुई बढ़ी कि अब मैं कहां जाऊंगी?

मैंने उसे रोक कर कहा—उर्मि! पगली तो नहीं हो गई हो। तुम्हारे तो अब एक की जगह दो-दो घर हो गये हैं।

उर्मिला मेरे मुंह की ओर देखती रही।

मैंने उसका हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर खींच लिया।

× × ×

जब मैं उर्मिला को लेकर पहुंचा तो चाची तैयारी में लगी थीं।

मैंने पूछा—यह क्या है?

चाची—मेरी यात्रा का उपयुक्त समय आ गया है ।

मैंने कहा—पर चाची, इतनी जल्दी नहीं ।

उर्मिला ने भी कहा—चाची, इतनी जल्दी नहीं ।

चाची ने उर्मिला की ओर देखकर कहा—इतनी जल्दी जाता नहीं सहा जाता, पगली—मैं तेरी तो बुआ ही हूँ ।

उर्मिला लजाकर चुप हो रही ।

मन की रानी

पड़ोस के घर में मारपीट के साथ ही चीखने और रोने की आवाज सुनकर रामचरन ने पत्नी से पूछा—सुनयना, पड़ोस कब से आबाद हो गया है ?

सुनयना—अरे, आज ही तो आये हैं ।

रामचरन—और आते ही

सुनयना—आते ही क्या घर-गृहस्थी में झगड़े लगे ही रहते हैं ।

रामचरन—तुम तो खुद कोतवाल से कम नहीं हो ।

सुनयना—मैं तो कोतवाल हूँ । न हाकूँ तो जमींदारी तुम्हारी कहीं रह जाय ।

रामचरन—यह तो मैं मानता हूँ ।

सुनयना—न मानोगे तो कहाँ जाओगे ?

मार अब तक चल रही थी, बल्कि उग्रतर होती जा रही थी । सुनयना से नहीं रहा गया तो छत पर चढ़कर उधर झांका । अधेड़ सास कमसिन बहू की बेलनों से पूजा कर रही थी ।

[दो]

'आजकल बहुत सिर चढ़ रही हो।
कोतवाल बना दिया तब तो चढ़ गई हो।'
'तुम्हें भी किसी सास के सुपुर्द करना होगा।'
'फिक्र नहीं मां! दस साल तक तो वैसे उठाया वैसे उठी वैसे बिठाया वैसे बैठी।
'अब?'
'अब मैं कोतवाल हूँ और तुम थानेदार। याद रखो।'
कभी भूलता हूँ?
पर मर्यादा का ध्यान नहीं रखा तो मुझे जानते हो।'
'जानता हूँ, देवी।

[तीन]

पड़ोस की कमसिन बहू को रामसरन ने घर में पनाह दी। कोतवाल सुनयना की सारी ठसक न जाने कहां चली गई। वह दबी दबी रहती है। झुकी झुकी चलती है।

कमसिन बहू का मिजाज आसमान पर है। रामसरन तब थानेदार था अब भी थानेदार ही है, पहले से अधिक सख्त कोतवाल के नीचे। उसके ऊपर चाकरी है। वह सुनयना से बात नहीं कर सकता। उसकी छाया को नहीं छू सकता।

बोलने के बजाय आंखों के इशारे से घर का शासन चलता है। उसके दर्पपन का साहस कोई नहीं करता।

[चार]

'तुम्हें दूसरा घर तलाशना होगा ।'—बहू ने कहा ।

'दूसरा घर ?' रामसरन ने पूछा ।

'हाँ, आज ही ।'

'किसके लिए ?'

'उस... उसके लिए ।' बहू ने सुनयना की ओर संकेत कर दिया ।

'उसके लिए इस घर में जगह नहीं है ?'

'नहीं ।'

'अरे, अरे' सुनयना ने बहू के पाँव पकड़ लिए ।—'मेरे ऊपर दया रानी ! मैं अब कहाँ जाऊँगी ? मेरा दुनिया में कौन है ?'

'तो मैं जाती हूँ ।' बहू धमधम करती बाहर निकल गई ।

सुनयना—'अरे नहीं अरे नहीं' 'मन की रानी' को जाने की जरूरत नहीं । मैं ही जाती हूँ । मैं ही जाऊँगी ।

सुनयना उसके पीछे पीछे निकल गई ।

खाली घर में पानीदार आँखें फाड़े खड़ा रह गया ।

मातेश्वरी

सवेरे लहलहाती हुई डाल ने मुँह उठाया। उसमें एक कली खिली थी। शाम का झोंका आया और उसकी महक को चुरा ले गया। दूसरे दिन वह अनमनी होकर धूल में पड़ी थी।

रंगमहल में रहनेवाली विलासिनी ने उसे देखा और फिर अपनी बसन्त श्री को। वह झिझककर पीछे हट गई। कामनाएँ भस्म गईं—प्रेम सजीव हो गया। महल से निकलकर वह कुटी की छाया में रहने लगी।

कौन,—विलासिनी ?

नहीं वही जगन्माता !

[दो]

"उसकी सम्पत्ति कुबेर का खजाना थी, कुटी में रहकर राम-सुख मय किए होंगे ?" पथिक ने पूछा।

"नहीं, वह अभागी थी। कठिन दुर्भिक्ष में लुट गई—अगणित धीरे-मजूरों की उदर-ज्वाला में भस्म होगई"—पुजारी ने उत्तर दिया।

"दुर्भिक्ष में ?"

"हाँ रही-सही महामारी में ।"

"अब ?"

"हाथों को मलती और धन के लिए तरसती होगी ।"

[तीन]

पुजारी ने पूछा—"देख लिया ?"

"हाँ, पर यह जगह अँधेरी है । कहीं पवित्र स्थान में चलकर बैठें ।"—पथिक ने कहा ।

पुजारी ने मन्दिर का द्वार खोल दिया । पथिक ने सहमकर आँखें बन्द कर लीं ।

"क्यों, चलोगे नहीं ?'

"नरक में प्रवेश से भय लगता है । यह क्या मन्दिर है ? पुजारी, पागल तो नहीं हो गये हो ?'

"मूढ़, क्या कहता है ? देख, सामने ठाकुरजी विराजते हैं ।"

"तुम्हारी आँखों की कमजोरी पर मुझे तरस आता है । मैं तुम्हें यथाशक्ति उधर जाने से रोकूँगा ।"

"अभागा, भरम हो जायगा ।"

पथिक ने आकाश की ओर देखकर आँखों को मूँद लिया और कहा—"आओ, अब तुम देखोगे ।"

[चार]

मध्याह्न के अंगारों में पथिक आगे-आगे था और पुजारी पीछे। सामने सड़क पर एक बालक हैजे से पीड़ित पड़ा था। विलासिनी ने अपनी गोद में उसका लथपथ शरीर रख लिया था। पुजारी ने कहा—"आगे चलो!"

एक घर में सात प्राणी थे। दो लड़के तीन लड़कियां, स्त्री और पुरुष। पुरुष मर चुका था। स्त्री-पुत्र और दो लड़कियां मरणासन्न,—शेष भूख-प्यास से बेचैन। पुजारी का हृदय पसीज गया पर वे थे आतुर। विलासिनी वहां भी आ गई। पुजारी ने पथिक की ओर देखा। वह निर्विकार था।

मुंह घुमाते ही सामने कई चिताएं लपटें ले रही थीं। एक युवक संसार की समस्त करुणा को हृदय से लगाकर बिलख रहा था। पुजारी की आंखें सजल हो गईं। उस युवक का सारा परिवार उसे अकेला छोड़ गया था। पुजारी ने सोचा—उसका कोई नहीं है। क्योंकि वह अन्त्यज था। विलासिनी वहां भी आ गई। उसने युवक पर अंचल की छाया करके कहा—"क्यों रोते हो?"

"कहां—गई मेरी मां?"

"आओ, मेरी गोद में।"

"हा, पिता!"

"वह मैं हूं।"

"प्यारी तारा!"

माहेश्वरी]

"इधर देखो !"

पुजारी वहीं अपना माथा पकड़कर बैठ गया। पथिक ने सावधान कर कहा—अरे, यह तो अपवित्र श्मशान है !

[पाँच]

"कहाँ हो—पुजारी ?'
"दिव्य लोक में !"
'यह क्या है ?"
"चिरन्तन ज्योति !'
"उधर पत्तों की वीणा कौन बजा रहा है ?"
'माहेश्वरी !"
सच कहना विलासिनी तो नहीं ?"
"छी, जगदम्बिका के लिये, यह क्या कहते हो !"
'—और वह द्वारपाल ?'
"ओह ! वही ठाकुरजी तो हैं !"

[छः]

पुजारी मन्दिर से चलते-चलते रुक गया और कहा—
"यहाँ कहाँ ?"
"क्यों ?"
"उस कुटी में मैं न !"

"और अब ?'

"यहीं तो—अब यहां कैसे आ गये ?"

"मन्दिर या कुटी में तो मैं नहीं रहता ।

'तो ?

"मैं रहता हूं प्रेम और सौहार्द्र में—और तुम कहां रहते ?"

'नहीं, यहां आप हस्पताल बने थे ।"

'नहीं, यहां आने की अब आवश्यकता नहीं ।

पुजारी ने माथा चरणों में झुका दिया और उनकी आंखों को पोंछकर देखा, चांदनी की अमृत भरी किरणें विदाई के रंगीन क्षणों और मरणोन्मुख वृद्ध के कंकाल का साथ ही साथ चूम रही थीं । उन्होंने झपटकर मन्दिर से निकलकर रोते हुए अस्पताल को गले लगाकर सान्त्वना दी । पुजारी पवित्र और मन्दिर चिर-शान्त हो गया ।

'वह यदि मैं होती'

आँख में दवा डलवाने अस्पताल गया था। वहीं रोगियों के एक कमरे के सामने मेरे कान में एक बहुत धीमे स्वर में ये शब्द पड़े—'वह यदि मैं होती।'—फिर सब शान्त हो गया। मालूम पड़ा, किसी ने या तो कहनेवाले के ओठों पर हाथ रखकर आवाज़ को बन्द कर दिया, या उसकी अन्तिम श्वांस सहसा शून्य में विलीन हो गई।

अस्पताल से लौटने पर वह सिसकी-सी आवाज़ एक हज़ार-मने लट्ठे का बोझ बनकर मुझे दबाने लगी। सुखमय निश्चिन्त जीवन में एक अप्रत्याशित चिन्ता का उदय जी को बड़ा कष्टकर मालूम पड़ा।

जीवन की तमाम विकट और दुखदायी परिस्थितियों से निकल चुका था। चिन्ता के व अवसर कभी के बीत चुके थे। भाग्य का सितारा जगमगा रहा था। समाज में मान प्रतिष्ठा लोगों में विद्या-बुद्धि का आतंक, पूरी तरह जम चुका था। मेरे चरित्र में लोगों के लिए 'सत्य शिव सुन्दर' का सामञ्जस्य स्थापित हो चुका था।

गाँव में अपनी अच्छी खासी जमींदारी थी। धन धान्य से घर की शोभा अनन्त गुनी हो गई थी, तिस पर भी मैं था एन्ट्रेन्स पास। अपने आसामियों के लिये मैं गौरव की वस्तु था। दूर दूर तक गाँवों में

मेरी योग्यता की धाक थी। वहां ऐसा पढ़ा लिखा भला था ही कौन कर्मचारी!

इन सब बातों के अलावा मेरे कोमल और दयालु स्वभाव ने और भी मेरे लिये लोक-प्रियता का संचय कर रक्खा था। मैंने रिआया के लिये कई सुविधाएं कर दी थीं। यहां तक कि सरकारी अफसर मेरे साम्यवादी होने का संदेह करने लगे थे। वे सब मेरी उपेक्षा करने लगे थे; पर मैंने कभी उनसे मान पाने की उत्कण्ठा नहीं की। इसीसे मैं अपने लोगों का बहुत प्यारा था। जिस दिन मेरी पुरानी बन्दूक जब्त करली गई थी, उस दिन मैंने भी अपने आपको बहुत कुछ बन्धनमुक्त समझ लिया था। मेरे प्रजाजनों ने तो एकमत होकर मुझे बधाई दी थी और कहा था— आप इस सरकारी मान से दूर ही रहें तो अच्छा। मैं सबका इतना प्रिय था कि एक बार मेरे खून कर डालने पर भी किसी को कानों-कान खबर न होती।

घर में मेरी सुन्दरी स्त्री थी, और थी चहकती बुई मैना-सी एक छोटी सुकुमार बालिका। गत छः मास से मेरी स्त्री दूसरे बच्चे की मां होने वाली थी। सभी ज्योतिषियों ने इस बार एक मत होकर पुत्र के सब लक्षण निश्चित कर दिये थे। मेरी श्रीमती तो कष्ट होते हुये भी इस समाचार से खिली फुलझड़ी की तरह हर्षोत्फुल्ल दिखाई पड़ती थीं। मैं आनन्दातिरेक से भिन्न रहा था। ओह! कैसा सौभाग्यशाली था मैं!

घर में आराम और सुख था। द्वार के बाहर कीर्ति और स्नेह। जीवन स्वतन्त्र, आनन्द और मधुमय था। मैं कभी भूलकर भी किसी वेदना-पूर्ण जीवन की कल्पना नहीं कर सकता था पर क्या कहूं, जबसे

पु कती पड़ चुकी थी, जिनकी गहरी रेखा समय के व्यवधान से मिटने पर आ गई थी। अब मैं अपने पूर्ण वेग से उनके लिए पश्चात्ताप के आंसू बहाने जा रहा था कि अकस्मात् कमरे के द्वार खुलने से मेरी निद्रा भंग हो गई।

मेरी श्रीमती ने भीतर आकर मुझे बताया कि आज शाम को *उसकी मृत्यु अस्पताल में हो गई। लोग पूछेंगे किसकी?—मेरी स्त्री ने तो* उसका नाम मुझे बताया था, पर मैं किस तरह बताऊं? जिसे मैंने हृदय से, मन से और विचार से निकाल दिया था, जिसके सारे सामीप्य को मैंने अपरिसीम दूरी में परिणत कर दिया था; जिसे अस्पृश्य अन्त्यज की भांति, पिछले रागों के कीटाणुओं की भांति, निष्ठुरता से अरक्षणीय मान लिया था, आज उसका नाम कैसे लूं?

किन्तु आज नौ बरस बाद उसके मरने का समाचार सुनकर मैं तुरन्त उसके घर की ओर चल पड़ा। अपने यहां किसी ने नहीं जाना कि मैं कहां जा रहा हूँ? जिसे स्मृति-मन्दिर से बहिष्कृत कर दिया था, उस घर की भग्न प्राचीरों के भीतर पहुंचा तो वहां केवल हिलते हुए वृक्षों को पाया, न किसी आदमी का निशान था न जीवन का स्पन्दन। उसके घर की हालत कंकाल शेष वृद्ध की तरह जीर्ण हो गई थी। जिस घर में एक बार, परीक्षा पास हो जाने के बाद, मैंने उसकी भोली गृहस्वामिनी को आशाओं की रुपहली मृगमरीचिका दिखाई थी वहां आज श्मशान की शान्ति छा रही थी। मेरी आंखों से आंसुओं की गंगा बह चली। वहीं खड़े खड़े मैंने एक बार वे सब बातें सोच डालीं।

एक समय था मेरे पास मोटरसाइकिल थी। उसी के धक्के से बलराम गिरकर बेहोश गया था। उस समय मेरी उमंगों का सारा विकास छिन्न-भिन्न हो गया था और जब डाक्टर ने आकर उसकी अन्तिम घड़ियों की सूचना दे दी थी तब तो मर्मान्तक कष्ट का अनुमान लगाना कठिन था। उस समय परिवार और प्रतिष्ठा किसी की सहायता से काम निकलनेवाला नहीं था पर स्वयं बलराम ने उस समय मुझे मग्न कर दिया था। उसने एक कागज पर अपना बयान और मरणासन्न हाथों से डाक्टर की उपस्थिति में लिख दिया था—'मैंने स्वयं आत्महत्या करनी है। विधवा माता और छोटी बहन के ऊपर अपनी पढ़ाई का भार डालकर उनके कष्टमय जीवन को और दुखमय बनाने से उसका न रहना ही अच्छा होगा।"

उस मर्मान्तक दान पत्र को लेते समय मेरी आत्मग्लानि करुणा से मत हुई जा रही थी। मैंने भी एक साहसी युवक की तरह उससे प्रार्थना की थी कि वह मुझे कोई सजा का भार दे जाय। बड़े अनुनय-अनुरोध के बाद उस महान उदारात्मा बलराम ने, अपनी हार्दिक-बहन सावित्री के जीवन की देख-रेख का उत्तरदायित्व इन निकम्मे कन्धों पर रख दिया था! हाय! मेरी वह आडम्बरपूर्ण प्रतिज्ञा! हाय, मानवीय प्रवञ्चना!—पर उस समय मैं अपनी प्रवञ्चना का विचार न कर सका था।

बालिका सावित्री और उसकी करुणा माँ ने मेरी बातों का विश्वास कर लिया था। उस समय तो मुझे भी यही भान पड़ता था कि संवेदना-मिश्रित त्याग ही परम पवित्र वस्तु है। कालेज के साथ जब निवृत्ति के साथ

विवाहिता कुमारी

फूल खिलना जानता है और मुरझाना भी। सुहासिनी हँसना जानती थी, रोना नहीं। मुसकान ही उसके अधरों पर खेली थी। आँसू ने उसके कपोलों का स्पर्श नहीं कर पाया था।

वसन्त कली का शृङ्गार करता है आशा ने उसने मन को सुरभित किया था। कौमुदी कुमुदनी की शोभा निखारती है, सरल भोलेपन ने उसके हृदय को प्रफुल्ल किया था।

उसका शरीर कुन्दन की तरह नहीं हलकी बदली की तरह था। उसका मुख चन्द्र की तरह नहीं सुरमई संध्या की तरह था। उसका केश-विन्यास कुसुम-गुम्फित नहीं श्यामाकाश की तरह था। उसकी उँगलियों में कलियों का सौकुमार्य और सौंदर्य नहीं, कसीदे की पटुता थी। उसकी आँखों में उन्माद का विलास नहीं थी सरल चितवन की स्निग्ध रमणीयता। उसका कंठ कोयल की तरह नहीं मयूरी की तरह था। उसका गान प्रेम-संगीत की तरह नहीं, प्रार्थना की तरह था। वह कल्पना और कविता की तरह नहीं धर्म-शास्त्र की तरह थी। वह देवी नहीं मानवी थी। उसका शरीर नहीं, मन सुन्दर था।

उसने अपना हृदय अपने प्रेमी वसन्त को दे दिया था। उसी

तरह, जैसे मालती लता अपने फूलों का हार माली को उतार देती है। उसने अपने मन के मन्दिर में बसन्त की मूर्ति चित्रित कर रक्खी थी। वह उसकी आँखों का बन्दी था और उसके निराले यौवन और सरल भोलेपन का दास।

शफालिनी के माँ नहीं, विमाता भी न थी। था केवल एक पिता। पिता के आँगन को उसके दूसरे बहन या भाई ने कभी अपनी हँसी से आलोकित नहीं किया था। वही उस घर की अकेली दीप शिखा थी। नीम और आम की छाया से आच्छादित और बगीचे से घिरा हुआ उसके पिता का घर महर्षि कण्व का छोटा आश्रम था। शफालिनी शकुन्तला थी। मृग-छौना उसने पाल रक्खा था। लताओं को उसने सींच-सींचकर बड़ा रक्खा था। कभी उसके एक सखी भी थी। उसका नाम था मालिनी। बड़ी हितैषिणी, बड़ी प्यारी और बड़ी स्नेहशीला। बचपन की उसकी वह सखी एक मधुर स्मृति छोड़कर अपने भाई के साथ कहीं चली गई थी। बरसों के परदे ने उस स्मृति-पट को झीना कर दिया था। उन दिनों बसन्त ही उसके मनोजगत का सुधांशु था।

[दो]

उसका विवाह कहाँ हुआ था। नौ साल की लड़की के सामने ग्यारह साल की उम्र का लड़का कहाँ जँचता है? तिस पर बसन्त नववधू की तरह लजीला, कुमुदिनी की तरह संकोचशील, कपोत की तरह भोला और चकोर की तरह सुकुमार था। उसके स्नेह में मृदुलता थी, स्वभाव में

सादगी थी और व्यवहार में सौजन्य । उसके गुण शैवालिनी को भाते थे । उसके पिता का पसन्द थे । अतः विवाह न होने पर भी वाग्दान हो गया था । शैवाल ने तो उससे भी पहले वसन्त का अपना समझ लिया था ।

कैसी सुन्दर समझ थी और कैसी अनुपम धारणा । एक दिन शैवाल के चुने हुए फूलों की माला पहनकर वसन्त ने एक गाना गाया । कैसा सुन्दर था वह गान ! कैसी मधुर थी वह स्वर-वीणा ! लेकिन उसका भाव अच्छा नहीं था, शैवाल के कानों को खटकता था । उसमें महत्वाकांक्षा की ध्वनि थी यश की कामना थी और उन्नति का भाव ।

शैवाल उदास हो गई । झुकी हुई लता का पुष्प-गुच्छ उसके गुलाबी कपोलों का स्पर्श करता हुआ कब से झूल रहा था । उसे तोड़ कर उसने बखेर दिया । मृगछौना फूलों की दो एक पंखुरियां मुंह में लेकर उसे प्यार करने आया था उसे भी उसने मना कर दिया । वसन्त वह भाव-परिवर्तन समझकर बोला—शैवाल तुम्हारा यह ढंग ठीक नहीं है । देखो भाग्य की रेखाएं । मुझे सम्राट् का मुकुट धारण करना है ।

शैवाल ने रूठकर कहा—तो जाओ, करो न ।

वसन्त—और तुम्हें मेरी रानी बनना है ।

शैवाल—भाग्य में है तो यहां भी सम्राट् बन जाओगे, न होगा मैं वहीं पिता से कहकर तुम्हें एक सुन्दर मुकुट बनवा दूंगी । उसे पहनकर यहीं पहाड़ियों पर घूमना, हरियाली पर शासन करना । मैं ऐसी ही रानी बनना चाहती हूं ।

दोनों खिलखिलाकर हंस पड़े । बात यहीं रह गई ।

[तीन]

बसन्त को सम्राट् बनने की धुन थी। शैवाल के पिता महन्त थे। शैवाल राजरानी बनेगी, ओह ! उसके गौरव का क्या ठिकाना ! आदमी के मन के अभिमानरक्षण के लिए विधाता का यह विश्व भी क्षुद्र है। नारी का त्याग और पुरुष की कामना दोनों ही निस्सीम हैं। एक की सार्थकता पहले में, तो दूसरे की अन्तिम में ही है।

एक दिन शैवाल के पिता ने अनेक आशीर्वचनों के साथ उसे, बसन्त को बिदा कर दिया। शैवाल को दोनों ने समझाया—उसका जाना बहुत थोड़े समय के लिये है, इतने थोड़े समय के लिए जितने में कोई बालिका विकलोत्कण्ठा से पागल नहीं हो सकती।

चलते चलते बसन्त ने एकान्त में गलबाहीं देकर उससे कहा—तुम डरो नहीं, विवाह से पहले हम दोनों मिल जायेंगे।

शैवाल तो विवाह की कुछ आवश्यकता ही न समझती थी, पर इन दिनों उसकी चर्चा इस ओर से चल रही थी कि उसे भी ख्याल हो गया जैसे वह तिथि अब बहुत दूर नहीं है। वह यहीं कहीं जाने के लिये तत्पर बैठी है। बहुत संभव है, नदी में उस पार पकी हुई बाली पर चढ़कर वह चल ही किसी समय जाकर द्वार खटखटाने लगे।

इतने थोड़े समय में वह जाकर कुछ कर आवेगा, जिससे हम लोगों का जीवन सुखमय हो जाय तो बड़ी अच्छी बात है। वह चला जाय। मैं कभी उसके मार्ग की दीवार नहीं बनूँगी।

मुहूर्त गुजरकर जब जाने लगा तो शैवाल ने हँसी-खुशी उसे विदा दी। केवल विदा होते समय आँखों के कोने ओस से फूल की तरह भीग गये थे। वर्षोंबाद के साथ रहने का यह सामान बड़ा ही विचित्र था।

[चार]

उसकी प्रतिज्ञा को लेकर कई पत्र आये, पर उसके दर्शन का मंगल-मुहूर्त कहीं मार्ग में ही अटक गया। उसके आने में इतनी देर लगी कि कली का एक-एक अरमान हवा के झोंके साथ टूट गया। शैवाल, प्रेम पुष्पिका शैवाल, की उम्र अपना रास्ता तय करती हुई आगे बढ़ने लगी।

समाचार मिला, वह अगले मास आवेगा। उस महीने में तो वह अवश्य ही चल देगा। अमुक तिथि के प्रातःकाल की प्रथम किरण के साथ उसके प्रस्थान करने का मुहूर्त है। वह निश्चित समय पर अपने स्थान से प्रयाण कर चुका है। मार्ग ने उसके स्वागत को घास की चादर ओढ़ रक्खी है। आकाश ने इन्द्र-धनुष की लहरोंवाले बादल के वस्त्र पहन लिये हैं। दिशाओं ने दक्षिण पवन की झांकी से अपने को सुवासित कर रक्खा है। पहाड़ियों ने फूलों की आँखें खोलकर उसके स्वागतार्थ अपूर्व वन्दनवारें सजा रक्खी हैं। वह आज नहीं तो कल और कल नहीं परसों उदित रश्मि के साथ-साथ अवश्य ही शैवाल के द्वार पर पहुँच जायगा।

शैवाल ने भी जुही और चमेली, गुलाब और मौलसिरी, बेला और सिंगारी के फूलों की मालाएँ गूँथ-गूँथकर रेशमी पुरइन-पत्र से ढक रक्खी थीं। हृदय के सुकोमल स्थलों में कितने अरमान जतन कर रक्खे थे।

हाय ! पर सब कुछ पड़ा रह गया । सुना गया कि वह आकर भी लौट गया । कोई बहुत आवश्यक काम था । इतना आवश्यक कि जिसके समक्ष शैवाल का मूल्य कुछ भी न था । शैवाल रो पड़ी । अपने हृदय को दबा लिया । बोली अपने दुर्भाग्य को क्या करूं ? किन्तु नहीं उनका आना ही ठीक है जिससे उनके मन की आकांक्षाएं पूर्ण हो जायं । उन्हें मुकुट मिल जाय । राजमुकुट उनके ललाट पर सुशोभित हो । मेरा भी तो ललाट तब सूना नहीं रहेगा ।

फिर सुनने में आया—महाराज ने उन्हें गोद ले लिया है । महाराज मृत्यु शय्या पर पड़े हैं । शीघ्र ही अब वे महाराज के पद पर अभिषिक्त होंगे । शैवाल प्रसन्न हो उठी वह सोचने लगी—अब मैं लड़कपन की पगली नहीं हूं जो उन्हें राजपाट छुड़ाकर चले आने की सलाह दूं । नहीं, अब वे सम्राट् हों क्योंकि मुझे भी तो साम्राज्ञी होना है ।

[पांच]

पूरे उन्तीस साल के व्रत नियम भी बसन्त को शैवाल के पास न ला सके । पर क्या एक क्षण का भी उसे निराशा हुई । सूर्य का, जाह्नवी का, विष्णु का, इन्द्र का और मरुतों का ध्यान भी उसे एक पग आगे न बढ़ा सका । पर कोई भी उसके कोप का भाजन न बना ।

श्रावणी पूर्णिमा का पर्व था । सूर्य अपनी सुनहली किरणों को कानी बदरी की बरूनी से अस्ताचल की ओर खींच रहे थे । शैवाल दीपक जलाकर मार्तण्ड की आरती करके ज्योंही ऊपर चढ़ी त्योंही उसे मालूम हुआ कि उसके घर पर कोई अतिथि आया है ।

शैवाल चौंक पड़ी—मेरे घर पर और अतिथि! संसार की गयावह विपत्तियों में भी यहाँ का आतिथ्य स्वीकार करने का कष्ट नहीं किया वहाँ कौन आयेगा! मुझे कौन जानता है इस संसार में! रमा से छोड़कर कोई अतिथि होने का आता नहीं। पिता माता दोनों ही स्वर्ग पहुँच चुके हैं। राजमुकुट मस्तक पर धारण करके पूरे इक्कीस साल बाद क्या कोई आ सकता है!

शैवाल का हृदय धड़क उठा। उसकी संवेदनशिराएँ बिजली से व्याप्त हो गईं। अतिथि! अतिथि!—कहती हुई वह मन्त्र-मुग्ध-सी अपने घर की ओर चली, पर वास्तव में उसे अपने शरीर का मान नहीं था।

द्वार के सामने संध्या के अन्धकार में एक परछाईं दिख रही थी। दूर पर लता-कुन्जों की छाया में, सघन कन्द-प्रदेश आलोकित हो रहा था। पृथ्वी पर चलती हुई शैवाल धीरे धीरे आकाश में उठने लगी। उसे प्रतीत होने लगा कि आज कण्व का आश्रम दुष्यन्त के आगमन से महोत्सवमय हो उठा है। उसके चालीस सालवाले मस्तक शरीर में मुग्ध शकुन्तला के मधुर हाव-भाव तरंगित होने लगे। उसे प्रतीत होने लगा जैसे सचमुच ही उसका वल्कल-वसन चलते चलते करील के काँटों में उलझता जा रहा है।

द्वार के समीप पहुँची तो पुरुष नहीं किसी स्त्री की छाया आसन्न मौन थी। शैवाल मनकी अवस्था को मौन के आवरण में लपेटे उस मानवमूर्ति के सामने आ खड़ी हुई और उसे पहचानने का कष्ट करने लगी। हाथ हिली, साड़ी की सरसराहट और आभूषणों की मधुर झनकार के साथ

एक रमणी उठकर खड़ी हो गई और उसने बढ़कर पुकारा—शवाल मेरी प्यारी शवाल! सखी, कहो तुम अच्छी तो हो!—वह बढ़कर शवाल के शरीर से लिपट गई।

सहसा शैवाल के मुँह से भी निकल गया—मेरी प्यारी मालिनी! तुम अबतक कहाँ थी?

कहो कहूँ बहन दुनियां की ऊँची-नीची तरंगों का उत्थान पतन देख रही थी। यश और आनन्द, आशाएँ और उनकी पूर्ति में भी मनुष्य का सन्तोष नहीं होता। वह सदा अप्राप्य की आशा में भटकता रहता है। अभाव भाव के लिए छटपटाता है और भाव अपने उस अभावमय जीवन की ओर सतृष्ण रहता है।—हां, और तुम कैसी रहीं?"

"मैं, मुझे तो तुम देख ही रही हो। मेरे जीवन में पर्वत की अचलता, तपोवन की साधना और तूफान की अशान्ति का एक अद्भुत मिश्रण सदा ही बना रहा है।"

"यही तो देखती हूँ बहन तुम इतने ही दिनों में सम्प्रति सी दिखने लगी हो। यह क्यों?—और तुम्हारा वह बगीचा कैसा है? मैंने और तुमने जो आम के पेड़ लगाए थे वे कैसे हैं?"

एक भूली स्मृति शवाल के अन्तःप्रदेश को मथने लगी। वह बोली—सखी वे वृक्ष तो अब पहाड़ की चोटी से बातें करने लगे हैं। उनकी छाया की याद तो मेरे मन में भी एक कहानी हो गई है।—और बहन, अपना वह हिरन का बच्चा, हाय! वह प्यारा कैसा सुन्दर था, कभी का मर चुका है। उसके कारण अब उन मखमली घास से ढके हुए वृक्षों के पास

जाने को जी नहीं करता है ।

मालिनी ने कुछ रुककर कहा—उसकी अधखुली आँखें तो अभी तक मुझे याद हैं, और उसका वह फड़कना हाथ! कैसा सुन्दर था ! एकाएक शैवाल को उसी के वे शब्द याद आ गये 'कि तुम कैसी सन्यासिनी सी दिखती हो ?' उसके दिल पर ठेस लगी वह तो अबतक अपने को भावी साम्राज्ञी ही समझ रही थी ।—लेकिन उसने कुछ कहा नहीं ।

दोनों सखियाँ बड़ी देर तक अपने गत जीवन की बातें करती रहीं ।

थोड़ी देर में तीन चार परिचारकों के साथ दो बालक आये । शिरीष से कोमल और गुलाब से प्रफुल्ल । उन्हें आते देखकर मालिनी ने कहा—बहन ! ये तुम्हारे ही बच्चे हैं । बड़े को स्वामी ने आने नहीं दिया है । वह अपने पिता का बहुत प्यारा है । फिर बच्चों से कहा—बिन्नू ! अपनी मौसी को प्रणाम करो । किशन् ! तुम भी प्रणाम करो ।

लड़कों ने माँ की आज्ञा का पालन किया । शैवाल ने बारी बारी से दोनों को चूमकर आशीर्वाद दिया । उसकी सूनी गोद आज मातृ-स्नेह से पवित्र हुई ।

मालिनी ने बच्चों को भेज दिया, आप थोड़ी देर और बैठी रही ।

माता पिता की मृत्यु के दुख-सुख के साथ विवाह की बातें चल पड़ीं । मालिनी ने शैवाल से पूछा—बहन और तुम्हारा विवाह कहां हुआ है ? वैवाहिक जीवन की कुछ बातें बताओ ।

शैवाल ने कहा—विवाह हो गया है, पर वे बहुत दिनों से विदेश

चले गये हैं। जब आते हैं, उन्हीं की प्रतीक्षा में हूँ।

मालिनी—मैं तीर्थ यात्रा को निकली हूँ तुम अपने स्वामी का पता मुझे देना। मैं अवश्य ही उन्हें घर भेजूँगी। बड़े दुःख की बात है, मैं तुम्हारे स्वामी से परिचित नहीं हूँ, पर तुम तो बहन मेरे स्वामी से भली भाँति परिचित हो। हम लोग अक्सर तुम्हारी चर्चा चलाकर बीते दिनों की याद करते हैं। उसने अपने स्वामी का परिचय दिया। उर्वीश हृदयेश्वर को अपना स्वामी बतानेवाली उस साम्राज्येश्वरी को शैवाल भला फिर अपने स्वामी का क्या परिचय देती!

उसका शरीर काँपने लगा। पैर के नीचे की पृथ्वी खिसकने लगी। सिर पर आकाश घूमने लगा। सारा संसार अन्धकार से आच्छन्न हो गया। उस अन्धकार में मालिनी के कान्तिमान मुखमंडल को देखकर शैवाल को प्रतीत हुआ कि वह अवश्य ही साम्राज्ञी और मैं सन्यासिनी—नहीं, पथ की भिखारिणी हूँ।

कुछ देर ठहरकर मालिनी ने विदा ली। उसका समय नहीं था। प्रातःकाल प्रयाण करना था और इधर शैवाल का हृदय अपना स्थान छोड़ रहा था। वह दुःख से पीली हो रही थी। उस दशा में उसने अपनी सखी को विदा दी, कह दिया—स्वामी का पता और परिचय सब लिखकर भेज दूँगी।

[८]

दुःखी, मर्माहता, विरह विधुरा, अपमानिता और तिरस्कृता

नीलाभ शून्य आकाश की ओर दृष्टि लगाये अपने पूर्व जीवन का प्रत्यक्ष कर करके देखती और दुःखी होती रही। दुःख, क्षोभ और ग्लानि के मिश्रित भावों से उसका मन भर गया। वह सोचने लगी—मेरे विश्वास ने मुझे धोखा दिया है। दुनिया के उपन्यासों, कहानियों और इतिहासों—सभी में तो अनेक बार भोली-भाली कन्याओं के ठगे जाने के रोचक वृत्तान्त लिखे हैं। मेरी सरलता ने मेरे सुख का नाश कर लिया पर नहीं, उन्होंने ही मेरे साथ विश्वासघात किया है। अपराध का दण्ड तो उन्हें मिलना ही चाहिए किन्तु एक भिखारिणी के लिए एक सम्राट को दण्ड देने का कौन साहस करेगा? मैं तो कुछ नहीं कर सकती। हाँ, एक पत्र लिखकर अच्छी तरह उन्हें फटकार सकती हूँ। बस, मैं एक कड़ा-सा पत्र उन्हें लिखती हूँ।

कहीं भूल से गलती हो गई हो, और वे उसका प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार हो जायँ? कहीं वे मेरे आँसू पोंछने के लिए, गुस्सा शान्त करने के लिए, दौड़कर मेरे पास आ जायँ तब मैं क्या करूँगी? जो बात हो चुकी है, वह लौट नहीं सकती। मुझे जब प्रेम करना चाहिए था तब की वे घटनाएँ तो वो ही चली गईं। अब अभिलाषाओं की समाप्ति के लिए उन्हें चिन्तित करने की आवश्यकता ही क्या है? पर जब आज उनका पता मिल गया है तो मैं उन्हें एक पत्र जरूर लिखूँगी। हाय! पर लिखूँ क्या? यह भी तो समझ में नहीं आता।

उन्होंने मुझे सताया तो बहुत है पर अब उस चर्चा का समय कहाँ? मैं उनके हृदय को दुखाऊँगी नहीं। तो अब कौनसा अरमान बाकी

थक गया है। जिसके लिए कुछ लिखने बैठूँ। व्यर्थ है, सब व्यर्थ है। हाँ, एक बात लिख सकती हूँ। वह मेरे जीवन की अन्तिम अभिलाषा है। मेरा समस्त जीवन एक स्वप्न का स्वप्न ही तो रहा है। सम्भव है गोधूलि के इस धुँधले प्रकाश में सत्य से स्पर्श हो सके तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगी। अब, इसीलिये लिखूँगी।

कुमारी होकर भी मैं विवाहिता बनी रही हूँ उन्हें मैं अवश्य लिखूँगी कि वे उसी तरह मुझे पुत्रवती होने का सुख दिला दें। उनके तीन बच्चे हैं। एक मेरे पास आ जायगा। क्या हो? वैसा सुन्दर होगा वह बालक। उसकी मीठी तोतली वाणी में कितना स्वाद होगा। मैं कुछ चाहूँगी? मुझे सब कुछ मिल जायगा।

पत्र तो लिख गया। मेरी दशा से वे मर्माहत अवश्य हो जायगे। उनके नेत्रों में दया झलक उठेगी। इसके वाक्य वाक्य में व्याकुल कुमारी का क्रन्दन है। इसकी पंक्ति-पंक्ति में वेदना की मूक रागिनी है और उनका हृदय भी तो पत्थर का नहीं। उसमें शील है उदारता है। वह अवश्य पिघल जायगा, आँखें पानी हो जायगी। मेरे मन के विचार का वह बीज फिर उगेगा। संवेदना के आकाश में उसका उदय होगा और दया के वातावरण में पोषित होकर उसकी स्नेह स्निग्ध किरणें मेरे शुष्क प्राण अन्तःकरण में सुधा छिड़क देंगी। वह पत्र उनके हाथ में होगा और मेरा पुत्र मेरी गोद में। तो क्यों न इसे भेज दूँ? अभी भेजती हूँ पर अब मैं जीवन निशा के समस्त पहरों में एक सुन्दर स्वप्न नहीं देख सकती हूँ। प्रणय की भिक्षा माँगकर अब पुत्र की भिक्षा माँगने का साहस नहीं

हो रहा है। अभी तक मैं उनकी साम्राज्ञी बनने का स्वप्न ही तो देख रही थी। यह आगत और अस्पष्ट से कितना भला था।

बस, मैं अपने प्रेम पत्र की इस अभिलाषा को स्वप्न ही से स्पष्ट कर लूं तो कितना सुन्दर हो। उसे मैंने उन्हें अपना सर्वस्व मानकर जीवन लिखा दिया थी। उसी प्रकार यह भी मान लेती हूँ कि उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली है। पुत्र को मेरे पास भेज दिया है। मैं उसे खिलाती हूं। दुलारती हूँ। वह खिलखिलाता है। हँसता है। मुझे माँ-माँ कहता है। मेरा यह स्वप्न नहीं कल्पना नहीं परम सत्य है। पत्र लिखते ही तमाम काम बन गया तो अब उसे क्यों भेजूँ? भिखारिणी को बिना मांगे मोती मिल गया तो वह क्यों याचना करे? बालीस वर्ष की अवस्था में लालसाओं की मुलहसी स्याही से लिखा हुआ मेरा यह प्रेम-पत्र लेटर बक्स में नहीं मेरे रत्न-खचित आभूषणों के साथ सुहाग की गुलाबी साड़ी में तह किया हुआ बड़ी हिफाजत से रक्खा रहे। क्योंकि इसमें मेरे सुखमय जीवन का स्वर्णिम आलोक स्मृति के रूप में बिखरा हुआ है। शैशव काल में जिन सुकुमार कुसुमों का चयन किया था। उन्हीं का पूर्वानुराग के रेशमी डोरे में फिर विरह के मखमली धागे में सुबह से शाम तक गूंथ-गूंथ कर सुरभित दिव्य हार तैयार किया था और जिसे अब तक उरअन्तर में छिपाये हुए थी आज—आज वही तो निखरकर इस पर आपका है। फिर इस लेटर-बक्स में क्योंकर डालूँ? इसमें मेरा सुख है। मेरी स्मृति है। मेरा सर्वस्व है। यह मेरी आँखों के सामने ही रहे तो अच्छा। इसी से इसे रख लेती हूँ। यह रहे मेरी सुहाग की साड़ी में, क्योंकि इसने मुझे रही-

सही लालसा का साक्षात् करा दिया है ।

शैवाल ने बड़े यत्न से साफकर पर पत्र तार तार से रही अपनी सुहाग की थाली में रख लिया । उस समय उसके आनन्द का ठिकाना नहीं था । सचमुच ही अनिर्वचनीय रूप से उसका कलेवर पुलकित हो रहा था । रात्रि के प्रथम दो प्रहर व्यतीत हो चुके थे । उसके घर की दीपशिखा धीरे धीरे मलिन हो रही थी । सुदूर प्रान्त में राजमहिषी मालिनी देवी के प्रस्थान की तैयारियाँ हो रही थीं । दो कोमल बालक उनके आँचल से खेल रहे थे । शैवाल भी अपने कल्पना प्रसूत पारिजात-कोमल पुष्प को धीरे-धीरे, हँस-हँसकर, फिर फिरकर चुम्बन कर रही थी । उसका मुख कितना उज्ज्वल और रसपूर्ण था ।

डाक-मुंशी

मेरा भाग्य उखड़ा है या सीधा, यह सदा मेरे लिए एक उलझी पहेली रहा है। मैं कभी उसे सुलझाकर समझ न सका। कभी एक क्षण के लिए भी उसकी मीमांसा न कर पाया। तृप्ति की साँस लेकर, अपने विषय में, स्वस्थ चित्त से, कभी मैं निश्चित विचार धारा में बहाकर मन की हरारत को मिटा न पाया।

शैशव आकाश में उड़ा था, कुनकुने स्वप्नों में खेला था। जवानी अभावों के अन्धकार में बड़ी हुई, विषमता की करुण शून्य निराशा में उसने स्वास्थ्य की साँसें लीं। अब इस अवस्थापन! विधाता की लीला देखिए। सब कुछ देकर कुछ भी न दिया और कुछ भी न देकर इतना बहुत सामने डाल दिया है—मैं बाहों में जिसे भर नहीं पाता हूँ दृष्टि के अंचल से जिसे बटोर नहीं पाता हूँ।

मैं नया डाक-मुंशी हूँ। यह नौकरी मुझे अनायास मिल गयी है, इसीसे मैं यह भी तय नहीं कर पाता हूँ कि यह मेरे सौभाग्य का चिह्न है, या अभाग्य का फल! मैं सचमुच इसके लिए तैयार न था। यह आप ही आकर गले पड़ गयी। अब छोड़ते भी नहीं बनता है। सच पूछो तो छोड़ने की इच्छा भी नहीं होती।

मैंने गरीब के घर जन्म लेकर रईस की लड़की का पाणिग्रहण किया था, उस समय मैं अब शादी एक खेल थी। मैं ग्यारह बरस का था, मेरी स्त्री बसन्ती सात बरस की। उस वक्त मुझे इतना ही मालूम था कि वह जोड़ी मिलाने के लिये मेरे ससुर ने मेरे बाप से मुझ मातृहीन को खरीद लिया था। अमीर को गरीबी पर जो घृणा और नफरत होती है, उसी से मैंने बार-बार अपनी जन्म तिथि की अभ्यर्थना की थी। मैं मोटर पर घूमता था। घर पर तीन-तीन मास्टर लगे थे। एक अंग्रेजी पढ़ाता था, एक हिसाब और एक मातृ-भाषा। लेकिन स्वप्न की वह सुनहली रात बहुत थोड़े दिन रही। आजकल करते करते मेरे ससुर मेरे लिए कुछ भी न कर सके। न जाने कौनसा संशय या संस्कार उन्हें रोकता रहा। लेकिन उनकी यह अभिलाषा अवश्य थी कि बसन्ती और मेरे सिवा उनका उत्तराधिकार किसी को न मिले। उनकी अभिलाषा उन्हीं के साथ चली गयी। मैं बाप हीन भिखारी (मेरे बाप मर चुके थे) के भाग्य के साथ सुकुमारी कुमारी बसन्ती का भाग्य भी विडम्बना के सूप में गुथ गया। हम दोनों अनाथ और अनभिज्ञ थे। अचानक ससुर चल बसे। कोई ट्रस्ट नहीं बनाया, कोई लिखा-पढ़ी नहीं की, किसी से कुछ कहा भी नहीं। हम दोनों रोते रह गये। बसन्ती के चाचा ने हम दोनों को रोने भी न दिया।

स्वार्थ अन्धा तो होता ही है, वह हृदयहीन भी होता है। उसे अनाथों और दुखियों की सिसक की अनुभूति होती ही नहीं। बसन्ती को चाचा ने घर पर रख लिया, और मुझे बाहर जाकर रुपया कमाने की सलाह दी। अनन्त संपत्ति के उत्तराधिकारी को भी कभी-कभी उदरपोषण

के लिए जीविकोपार्जन की जरूरत पड़ जाती है। परिस्थितियाँ सब कुछ करा लेने की क्षमता रखती हैं।

मेरी उम्र के आदमी सिवा स्काउटिंग के और किसी उपयोग में शायद बहुत कम आते हैं, पर हमारे ससुर के सहोदर की दृष्टि में मुझे घर पर बिठाकर खिलाना और मेरे लिए पढ़ाई में कुछ खर्च करना दोनों ही फिजूल थे। जिसकी संपत्ति पर सबका भरण पोषण होता था, उसी के लिए रोटियों का टोटा था।

न-जाने क्यों अबतक मैं चाचा को बिलकुल निरक्षर समझता था। पर आज देखता हूँ उन्हें भविष्य की लिपि का अच्छी तरह ज्ञान था। वे विधाता की हर एक बात को अच्छी तरह समझते थे। उन्हें मालूम हो गया था कि मेरा अतीत और भविष्य दोनों एक तरह के थे। अमावस की रात में बिजली की चमक की तरह, एक क्षणस्थायी आलोक रेखा मेरे जीवन में कहीं से आ गयी थी; पर उसका अदृश्य हो जाना ही निश्चित था। क्योंकि वह मेरे भाग्य का फल नहीं, भगवती के भाग्य का फल थी पर मेरे दुर्भाग्य का प्रबल आकर्षण उसे भी मिटा देने में समर्थ हो गया। भ बकार, केवल भ बकार शेष रह गया।

[दो]

कानपुर के एक अहलमद से मेरे ससुर की बहुत रब्त-जब्त थी। मेरे भाग्य को बदलने में उसकी इच्छा तो नाममात्र को ही थी, विशेष प्रयत्न था मेरे चाचा का। इस वास्ते वहाँ उसके आगे उस बेचारी के निष्कलंक

नाम को लेने की जरूरत ही क्या !

हां, तो मिवा बसंती के और सब लोगों की इच्छा चाचा की बात का समर्थन मात्र थी। मेरे चाचा के एक भी लड़का या लड़की नहीं थी, और बसंती मेरी बालिका पत्नी, को खेलने के लिए एक साथी की जरूरत थी। बस वही मेरे प्रस्थान से दुखी थी। मैं उस समय उसकी मनो व्यथा ठीक तरह नहीं समझ सका। यदि समझता, तो शायद मैं कानपुर पहुंचने के लिए उतना उत्सुक न होता। मेरे चाचा ने मेरे मन में कानपुर का कैसा सुन्दर चित्र खींच कर दिया था। मैं तो उस समय इसी धुन में था कि कब कानपुर देखूं। आखिर मैं घर से चल पड़ा था चलने को विवश हो गया। उस समय मेरी बचपन अधीश्वरी रूठकर एक कोने में जा बैठी थी। मैं उसके पास गया—अपने हृदय के साहस को बटोरकर कहा—मैं जाऊं !

जवाब कुछ भी नहीं।

मैंने फिर कहा— तुम्हारे लिये कानपुर से क्या लाऊं ?

उसने एक ओर को मुंह फेर लिया।

मैंने सप्रेम स्निग्ध कंठ से पूछा—गुड़ियें ? खिलौने ? बोलो बसंती, क्या लाऊं ? ओह, तुम तो बोलती ही नहीं ?

कठिन, नीरव निश्चल चट्टान के नीचे अनन्त स्रोत छिपा रहता है। मौन भी वैसी ही एक प्रकार की चट्टान है। उसे जरा छेड़ने से अन्दर की जल-राशि कुलकुलरव के साथ निकल पड़ती है। बसंती रो पड़ी। उसकी सरल कोमल हंसी जिन गालों पर हरदम नृत्य किया करती थी,

के भीग गये ।

मैं अभी बच्चा था, पर मेरा हृदय काफी समझ था । वह मनोभावों की गति समझता था । वय का बहुत कुछ सम्बन्ध अनुभव के ही साथ है । मैं भी रो पड़ा । क्यों ? यह मैं नहीं जानता । पर मेरा हृदय जानता है ।

हम दोनों देर तक रोये । दोनों की आँखें पलकों में छिपी थीं । एकाएक जयंती ने यह पल सह लिया । आँखों को अजीब तरह से घुमाकर, टेढ़ी-मेढ़ी नजर से ताककर कहा—जाओ न, जाते क्यों नहीं ?

आँखों का यह संचालन, भृकुटि का यह विलास उसके गुस्से का प्रदर्शन था । मैंने कहा—मैं तो न जाऊंगा न, कहीं नहीं !

उसने बिलकुल नये ढंग से ठहककर पूछा—सचमुच ? उसके बालों की एक सुनहली लट खिसककर उसके उन्नत बड़े बड़े नैना पर आ गयी थी ।

उसी समय चाचा ने पुकारा—अरे रे अरे महेश क्या देर-दार कर रहा है ।

उसने बालों की लट को अपने बाँये हाथ से सिर के पीछे खिसका-कर मेरे चेहरे की तरफ देखा उसकी मूक दृष्टि में अनेक प्रश्न थे ।

मैं चौंककर उदास हो गया । हवा के झकोरे में दीपक भी तो झिलमिला जाता है ।

जयंती मेरे सकष्ट को समझ गयी । 'जाओ तुम जाओ' कहकर वह अपना मुँह छिपाकर जल्दी जल्दी वहां से चली गयी ।

मेरे हृदय को बड़ी ठेस लगी। क्रोध में मैंने सोचा—कानपुर न जाऊं। क्यों? वहीं जाना तो मेरे जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है। ओह, वह कैसा सुन्दर शहर होगा? कितना जीवन और कितना आनन्द! यहां क्या है? व्यर्थ के खेल, पढ़ने-लिखने के बन्धन, चाचा चाची की लाल पीली आंखें। बसंती तू मूर्ख है; पगली है। अपने जीवन के साथ मेरे जीवन का आनंद भी नष्ट कर देना चाहती है। चालाक छोकरी!

[तीन]

कानपुर आकर वहां की दशा को समझा। शहरों की तड़क भड़क और उनका आमोद गरीबों के लिए नहीं, अमीरों के लिए है। अगर कोई मेरी बात पर विश्वास करनेवाला मिले तो मैं कहूंगा भया! चल आने की तैयारी करो तो अच्छा है पर शहर का नाम न लो। वहां की ऊँची-ऊँची इमारतें दैत्यों से कम नहीं होतीं। वे गरीबों को जीवित ही खा लेती हैं। अमीरों की क्षमता के आगे उनका सिर नत हो जाता है। वे ही मुकुट के रत्नों की तरह उनके उन्नत ललाटों पर शोभा पाते हैं।

अब समझता हूं घर की साधारण अवस्था में भी शहर के आनंद से अधिक सुख रहता है। हाय, प्यारी बसंती! उस समय क्या मैं यह सब समझता था!

मैं पूरे तीन बरस कानपुर रहा, केवल रोटियों और झिड़कियों पर। बसंती मैं अपने लिए कुछ धन तो इकट्ठा न कर सका पर अनुभव

बहुत-सा बटोर लिया ।

इस बीच में एक बार भी मैं घर नहीं पहुँच सका । बड़ी इच्छा थी । मन ही-मन घुला जाता था । बसन्त हो चला था । प्यारी बसंती की विदा-समय की करुण-कोमल मूर्ति आँसुओं से धुल-धुलकर उज्ज्वलतर होती जा रही थी । दिन में काम के भार से भार-ग्रस्त रहता और रात्रि को स्मृतियों के अविरल पतझड़ से आवृत होकर चुपचाप अपने अस्तित्व को विलीन कर देता था । कानपुर और शाहजहाँपुर में अन्तर ही कितना है ? पर मेरे लिए बहुत था । घर पहुँचने का कोई साधन मुझे प्राप्त नहीं था । अपनी किसी चीज पर मेरा अधिकार नहीं था । मेरी तनख्वाह, जो हाल ही में दूनी बनायी जाती थी, मेरे ससुर के भाई के नाम जमा होती थी । सच पूछो तो मुझे खुद भी अपने अधिकारों का पता नहीं था । बसंती के पिता ने मुझे खरीद लिया था, न कि उनके भाई ने । इतनी मोटी बात भी उस समय मेरी बुद्धि में नहीं आयी थी ।

घर जाने की बड़ी उत्कंठा थी, बड़ी लालसा । मैंने कई बार पत्र लिखे । बार-बार चाचा को बताया कि मैं अब काफी रुपया पैदा कर चुका हूँ । मैं थक गया हूँ । मैं मर रहा हूँ । अब यहाँ रहने की बिलकुल इच्छा नहीं है । आप मुझे तुरन्त बुला लीजिए ।

चाचा ने बहुत देर बाद जागकर उत्तर दिया—घबराओ नहीं, काम किये जाओ । घर पर आकर क्या करोगे ? काम नहीं करोगे तो खाओगे क्या ? यहाँ क्या रक्खा है ?

मैंने और भी एक पत्र लिखा—आप मेरे आने की चिन्ता मत

कीजिए। मुझे बुला लीजिए। मैं यहाँ एक क्षण भी अब नहीं रह सकता। आप न बुलावेंगे तो मैं स्वयं चला आऊंगा।

तुरन्त उत्तर आया—अच्छा मैं आ रहा हूं। वहीं आकर ठीक करूंगा।

मेरे प्राण निकल गये। जानता था क्या होगा। वही हुआ। चाचा उसी शाम को आ धमके। शायद चिट्ठी के साथ ही-साथ चले थे। आकर मुझे बड़ी तीखी आवाज से व्यथित करते हुए कहा—क्या तुम को शर्म नहीं लगती है? यदि आराम ही भाग्य में लिखा होता, तो एक भिखमंगे के यहां जन्म लेते? अब तुम ऐसे नाजुकमिजाज हो गये हो?

मैं क्या कहता? चुप रह गया। आंखों के आंसू भी भयभीत हो गये। सारा शरीर सूखी पत्ती की तरह कांपने लगा।

रात हुई। मैं जाकर अपने बिस्तरे पर लेट गया। बड़ी देर का रुका हुआ प्रवाह एकांत पाकर बड़े वेग से बह निकला। मैं सोच रहा था—हाय! मैं गरीबी भी अपनी इच्छा से वरण नहीं कर सकता? मैं अब चाचा से कुछ चाहता हूँ? वे लें, सब ले लें, पर मुझे और मेरी प्यारी बसंती को तो संसार में मुक्त होकर रहने दें। इसमें उनका क्या आता-जाता है?

चाचा दूर खड़े हुए शायद मेरे मन को समझने का यत्न कर रहे थे। बड़े कोमल और आकर्षित करनेवाले कंठ से बोले—बेटा, बेटा! तुम्हें मेरी बातें कड़ुई तो लगी होंगी। दवा कड़ुई ही होती है।

कितने दिनों बाद चाचा मिले थे। इससे पहले तो शायद कभी

कोई आशा नहीं था। बरसों से घर के बाहर पड़े हुये मुझ वियोगी का मन एकाएक पुलकित हो उठा। कुछ पैठे पहले चाचा का मेरे प्रति क्या व्यवहार था, वह मैं उस समय याद न रख सका। अभी एक बार नैराश्य और दुःख से रो चुका था, अब हर्ष और आनंदातिरेक से रो पड़ा। हिचकियां बंध गयीं, सांस फूलने लगी।

कपूर दया के बाद मिश्री की डली-सी देते हुए चाचा ने कहा—मैं तो तुम्हारे भले की कहता हूँ। कुछ दिन यहां और रह जाओगे, तो आदमी हो जाओगे। अगर जानवर की तरह ही जीवन बिताया चाहते हो, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

मैंने अनेक आशाओं से आशान्वित होकर याचना के से स्वर में कहा—अच्छा तो मैं लौट आऊंगा; पर एक बार आप मुझे घर लेते चलें। घर जाने की मेरी बड़ी इच्छा है।

सोचा था, इस छोटी-सी प्रार्थना को चाचा स्वीकार कर लेंगे। पर उन्होंने नहीं किया। कर लेते तो क्या बुराई हो जाती, यह आज तक मेरी समझ में नहीं आया। उन्होंने बहुत बेढंगे तरीके से कहा—अच्छा, इस बार तो मैं सीधा घर नहीं जा रहा हूँ। अब की बार आऊंगा, तो अवश्य ही तुम्हें ले चलूंगा। मैं जल्दी ही आऊँगा। तब तक तुम और रहो।

मैं चुप रह गया। तीन बरस के बाद बहुत सिसकने पर तो उनके दर्शन हुए थे; दूसरी बार अपने आप कितनी जल्दी आ जायंगे मैं इसी बात का अनुमान लगाने लगा।

सुबह हुई। चाचा बाजार से बहुत-सी साड़ियाँ, चोलियाँ और गहने खरीद कर ले चले। मुझसे कहा—देखो, इस दफे ठीक से रहना फिर गड़बड़ी मत करना।

मेरी आँखें रंग-बिरंगी साड़ियों के पुलन्दे पर पड़ रही थीं। चाचा ने न-जाने क्या समझकर कहा ये सब जयन्ती के लिए ले जा रहा हूँ। उसने बहुत जिद की थी।

मेरी आँखें आँसुओं से आप्लावित हो आयीं। चाचा चले गये। मैं मन मसोसकर रह गया। बचती, केवल जयन्ती की याद भर सा रह गई थी।

आँसुओं से पलकों को आर्द्र करके मैं चिंतित होने पर चाचा की ले जाती हुई साड़ियों में से कभी लाल, कभी आसमानी और कभी बसंती साड़ी में अपनी प्यारी जयंती को अपने सामने प्रत्यक्ष करके देखने लगा। मेरी कल्पना-शक्ति बहुत बढ़ गई थी। साड़ी का उड़ता हुआ अंचल, मेरी बालिका प्रिया का तनिक भृकुटि दिखाना और उसका मधुर स्मित हास्य मेरी आँखों के सामने नाचते रहते थे। न-जाने क्यों, मैं उन दिनों जागृति और स्वप्न दोनों में सिर्फ अपने घर के ही दृश्य देखा करता था।

[चार]

कितना समय बीत गया, चाचा नहीं आये। जयंती के मृत्यु संवाद को लेकर उनकी एक चिट्ठी एक दिन आ पहुँची। मैं आकाश की ऊँचाई से पाताल की गहराई में औंधे मुँह गिर पड़ा। मेरा भी किसी

भाग्य के निष्ठुर हाथों ने अच्छी तरह मथ डाला।

आज मैंने समझा, शायद इसीलिए चाचा मुझे नहीं ले गये थे। अब बुला रहे हैं। पर अब मैं जाकर करूंगा क्या? शायद उनसे रोया भी न जाता होगा। मुझे रोने के लिए बुला रहे हैं। मेरे आंसुओं से अपनी छाती को शीतल करना चाहते हैं। मैं क्यों जाऊं? अगर रोना ही है, तो एकांत में रोऊँगा। ऐसी जगह रोऊँगा, जहां से मेरी सिसक का पता उन्हें न लगे। मेरी स्त्री से मुझे एकबार मिलने तक न दिया। अब उसकी याद में गिरते हुए आंसू देखने के लिए मुझे बुलाते हैं। न न मैं कभी न जाऊँगा।

तीन दिन मैंने कुछ खाया नहीं, पिया नहीं। एक करवट लगातार रोता पड़ा रहा। सारी आशायें मर गयी थीं। जीवन के तमाम आकर्षण दफन हो गये। उसी समय मैंने सुना—कोई बाहर मेरी तलाश कर रहा है। जी में सोचा—कह दूं, अब परलोक में ही भेंट होगी। फिर मन नहीं माना, नीचे उतर गया। सड़क पर एक मलीनवसन हाथ में पहाड़ी लकड़ी लिए चिन्ताग्रस्त-से घूम रहे थे। सड़क पर कोई नहीं था। मुझे देखकर पूछा—बेटे, यहां कोई महेशचन्द्र रहता है?

ओफ! न-जाने कितने बरस बाद अपना पूरा नाम सुन पड़ा। मैं तो चकित रह गया। मेरे ससुरजी मुझे इसी नाम से पुकारते थे। उनकी आदत थी। मुझे अधिक से अधिक सम्मान देना ही उनका ध्येय था। शायद वे जानते थे कि उनके बाद मैं किस किस चीज के लिए तरस जाऊँगा। उस उस चीज से वे मुझे अपने जीवन-काल में अच्छी तरह

परितृप्त कर गये थे। मेरे मन की कोई साध अतृप्त नहीं रही थी।

मैंने बहुत बुरी तरह से झिझककर जवाब दिया—जी, मैं ही महेश हूं। मुझे अपना पूरा नाम लेने की हिम्मत न हुई। मेरी हालत भी नहीं थी कि पूरा नाम लेकर मैं उनकी व्यवस्था को आशंकाकम्पित करता। फिर भी मैं कुछ रुका। फिर मुझसे पूछा—तुम कहां रहते हो? किसके लड़के हो?

मैंने सब बता दिया। पर शायद इससे कुछ विशेष उन्हें पता न लगा। उन्होंने मुझसे पूछा—तुम्हारा ब्याह हो गया है क्या?

मेरी आँखें सजल हो गयीं। कुछ जवाब देते न बन पड़ा।

उन्होंने फिर पूछा—तुम्हारे ससुर का नाम क्या है?

मैंने किसी तरह बता दिया। उन्होंने फिर पूछा—तुम्हारी स्त्री का नाम क्या जानते हो?

मैंने उनके चेहरे की ओर देखकर कहा—है नहीं, था।

मुझसे रहा नहीं गया। मैं बेतहाशा रो पड़ा। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और कहा—क्यों, रोते क्यों हो? आओ, मेरे साथ चलो। मैं तुम्हारी स्त्री का ही भाग्य हूं।

मैं चिल्ला पड़ा—हैं, क्या कहते हैं आप!

उन्होंने कुछ कहा नहीं। मुझे खींचे अस्पताल में ले गये। उसमें रास्ते में मैं कितनी बार मर-मरकर जी गया, यह नहीं बतला सकता। मेरी मरी हुई पत्नी की बाबत हामी इसका मुझे जरा भी विश्वास नहीं होता था। फिर भी मैं उस वृद्ध पुरुष के साथ चला जा रहा था।

प्यार के निष्ठुर हाथों ने अच्छी तरह मथ डाला ।

आज मैंने समझा, शायद इसीलिए चाचा मुझे नहीं ले गये थे । अब बुला रहे हैं । पर अब मैं जाकर करूँगा क्या ! शायद उनसे रोया भी न जाता होगा । मुझे रोने के लिए बुला रहे हैं । मेरे आँसुओं से अपनी छाती को शीतल करना चाहते हैं । मैं क्यों जाऊँ ! अगर रोना ही है, तो एकांत में रोऊँगा । ऐसी जगह रोऊँगा, जहाँ से मेरी सिसक का पता उन्हें न लगे । मेरी माँ से मुझे एकबार मिलने तक न दिया । अब उसकी याद में गिरते हुए आँसू देखने के लिए मुझे बुलाते हैं । न न, मैं कभी न जाऊँगा ।

तीन दिन मैंने कुछ खाया नहीं, पिया नहीं । एक करवट लगातार रोता पड़ा रहा । सारी आशाएँ मर गयी थीं । जीवन के तमाम आकर्षण खत्म हो गये । उसी समय मैंने सुना—कोई बाहर मेरी तलाश कर रहा है । जी में सोचा—कह दूँ, अब परलोक में ही भेंट होगी । फिर मन नहीं माना नीचे उतर गया । सड़क पर एक भलेमानस हाथ में पहाड़ी छड़ी लिए चिंतामग्न-से घूम रहे थे । सड़क पर कोई नहीं था । मुझे देखकर पूछा—बेटे, यहाँ कोई महेशचन्द्र रहता है ?

ओफ ! न-जाने कितने बरस बाद अपना पूरा नाम सुन पड़ा । मैं तो चकित रह गया । मेरे ससुरजी मुझे इसी नाम से पुकारते थे । उनकी आदत थी । मुझे अधिक से अधिक सम्मान देना ही उनका ध्येय था । शायद वे जानते थे कि उनके बाद मैं किस किस चीज के लिए तरस जाऊँगा । उस उस चीज से वे मुझे अपने जीवन-काल में अच्छी तरह

परितृप्त कर रहे थे। मेरे मन की कोई बात प्रगट नहीं हुयी थी।

मैंने बहुत बुरी तरह से झिझककर जवाब दिया—जी, मैं ही महेश हूं। मुझे अपना पूरा नाम लेने की हिम्मत न हुई। मेरी हालत भी नहीं थी कि पूरा नाम लेकर मैं उनकी धारणा को आश्चर्यचकित करता। फिर भी वे कुछ रुके। फिर मुझसे पूछा—तुम कहां रहते हो? किसके लड़के हो?

मैंने सब बता दिया। पर शायद इससे कुछ विशेष उन्हें पता न लगा। उन्होंने मुझसे पूछा—तुम्हारा ब्याह हो गया है क्या?

मेरी आंखें सजल हो गयीं। कुछ जवाब देते न बन पड़ा।

उन्होंने फिर पूछा—तुम्हारे ससुर का नाम क्या है?

मैंने किसी तरह बता दिया। उन्होंने फिर पूछा—तुम्हारी स्त्री का नाम क्या कमली है?

मैंने उनके चेहरे की ओर देखकर कहा—है नहीं, था।

मुझसे रहा नहीं गया। मैं बेतहाशा रो पड़ा। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और कहा—क्यों, रोते क्यों हो? आओ, मेरे साथ चलो। मैं तुम्हारी स्त्री को ले आया हूं।

मैं चिल्ला पड़ा—हैं, क्या कहते हैं आप!

उन्होंने कुछ कहा नहीं। मुझे सीधे धर्मशाला में ले गये। उतने रास्ते में मैं कितनी बार मर-मरकर जी गया, यह नहीं बतला सकता। मेरी मरी हुई पत्नी की प्राप्ति होगी इसका मुझे जरा भी विश्वास नहीं होता था। फिर भी मैं उस वृद्ध पुरुष के साथ चला जा रहा था।

धर्मशाला में पहुंचते ही, असमय में ही जरा-जीर्ण हुई एक युवती आकर मेरे दुर्बल शरीर से लिपट गयी। मैं डर गया। शरीर एक बार कांप गया। जयंती, जयंती क्या कभी वैसी थी? सचमुच मैं तो किसी तरह उसे पहचान न सका। हाय! मैं तो अब तक नहीं समझे हुए था कि मेरी जयंती वैसी ही बनी होगी। उसकी मृत्यु पर मैंने जितने भी आंसू गिराये थे, वे सब उसी भोली-भाली बालिका-पत्नी के लिए थे। लेकिन अब आंखों से जितना जल-वर्षण हुआ, वह जीवित परन्तु अस्थि पंजरावशेष अपनी तपस्वी-पत्नी जयंती के लिए था। होता भी क्यों न, जबकि उसका तरुणाई का जीवन उस कल्पित मृत्यु से कहीं भयावह और दुःखद-करुण था!

हाय! अब तक मुझे मालूम न था कि मैं स्वयं भी बहुत कुछ बदल गया हूं। अपनी जयंती के आंसुओं के दर्पण में जब मुझे अपनी दशा का ज्ञान हुआ, तो मैं क्षणभर स्तब्ध रह गया। मुझे उस दशा में भी जयंती ने पहचानने में भूल नहीं की, यह बात उसके अनुकूल ही थी।

[पांच]

मुझे मालूम नहीं कि मेरे श्वसुर के सहोदर को निस्संतान होते हुए भी दौलत की तृष्णा इतनी प्रबल क्यों थी? मेरा दुर्भाग्य इसका कारण हो सकता है पर बेचारी भोली भाली असहाय बाला ने क्या किया था? उसे विजन वन में झोंक आने की क्या आवश्यकता थी? यदि घर में खाने

की कमी भी तो उनको खबर लेनेवाले एक आदमी का वे जानते ही थे । मुझे खबर देते । हा स्वार्थान्धता ! तू जीवित व्यक्ति का झूठा मृत्यु-संवाद तो दे सकी, पर उसकी रक्षा का एक शब्द भी तुझसे न भेजा गया ।

मैं और अवंती उस अपरिचित महापुरुष के प्रति कृतज्ञता का भाव भी प्रदर्शित न कर सके, पर हमारा रोम-रोम उनकी कृपा के भार से झुक रहा था । उन्होंने मुझसे और अवंती से कहा—तुम मुकदमा चलाओ, मैं तुम लोगों को खर्च दूंगा । मैं भी उनकी बातों से अक्षरशः सहमत था । मुकदमा चलाकर नहीं, लेकिन स्वयं समाज के सामने अवंती के सहित उपस्थित होकर चाचा के घृणित अत्याचार को प्रकाशित करदूँ । लेकिन क्षमा की देवी अवंती ने कहा—नहीं, जो सम्पत्ति इतने अनर्थों की जड़ है, उसकी मुझे जरा भी इच्छा नहीं । वह लोभियों मात्र पापा के लिए ही छोड़ दो । मैं अब उस घर की तरफ कदम न दूंगी । गरीबी वह निर्गन्ध पुष्प है, जिसकी तरफ किसी की लोलुप दृष्टि नहीं पड़ती । मैं उसी में परिचित हो जाना चाहती हूँ ।

मैंने अवंती का हृदय से लगाकर अपनी जीवन-नौका अपार संसार-सागर में छोड़ दी । कोई आश्रय नहीं, कोई सहारा नहीं ; बस, एकदम निरीह और निरवलंब ।

[छ]

भाग्य कहे या दुर्भाग्य ! हृदय तो उसे भाग्य ही समझ बैठा था । गयी हुई चीज मिली थी, खोया हुआ सपना हाथ लगा था । मैंने

धर्मशाला में पहुँचते ही, असमय में ही जरा-जीर्ण हुई एक बुढ़ी आकर मेरे दुर्बल शरीर से लिपट गयी। मैं डर गया। शरीर एक बार काँप गया। जयंती, जयंती क्या कभी ऐसी थी? सचमुच मैं तो किसी तरह उसे पहचान न सका। हाय! मैं तो अब तक यही समझे हुए था कि मेरी जयंती कभी की ही मरी होगी। उसकी मृत्यु पर मैंने जितने भी आँसू गिराये थे, वे सब उसी भोली-भाली बालिका-पत्नी के लिए थे। लेकिन अब आँखों से जितना अश्रु-वर्षण हुआ, वह जीवित परन्तु अस्थि पंजराव-शेष अपनी तपस्वी-पत्नी जयंती के लिए था। होता भी क्यों न, जबकि उसका तरुणाई का जीवन उस कल्पित मृत्यु से कहीं भयावह और दुःखद-कष्टद था।

हाय! अब तक मुझे मालूम न था कि मैं स्वयं भी बहुत कुछ बदल गया हूँ। अपनी जयंती के आँसुओं के दर्पण में जब मुझे अपनी दशा का ज्ञान हुआ, तो मैं क्षणभर स्तब्ध रह गया। मुझे उस दशा में भी जयंती ने पहचानने में भूल नहीं की, यह बात उसके अनुकूल ही थी।

[सात]

मुझे मालूम नहीं कि मेरे ससुर के सहोदर को निस्संतान होते हुए भी दौलत की तृष्णा इतनी प्रबल क्यों थी? मेरा दुर्भाग्य इसका कारण हो सकता है पर बेचारी भोली भाली असहाय बाला ने क्या किया था? उसे विजन-वन में झोंक आने की क्या आवश्यकता थी? यदि घर में जाने

की कभी भी तो उसकी खबर लेनेवाले एक आदमी को वे जानते ही थे। मुझे खबर देते। हा स्वार्थान्धता ! तू कोकिल स्वर्गिक का मूल्य मृत्यु-संवाद हो है सकी। पर उसकी रक्षा का एक शब्द भी मुझसे न भेजा गया।

मैं और वसंती उस अपरिचित महापुरुष के प्रति कृतज्ञता का भाव भी प्रदर्शित न कर सके, पर हमारा रोम-रोम उनकी कृपा के भार से झुक रहा था। उन्होंने मुझसे और वसंती से कहा—तुम मुकदमा चलाओ, मैं तुम लोगों को खर्च दूँगा। मैं भी उनकी बातों से पूर्णतः सहमत था। मुकदमा चलाकर नहीं, लेकिन स्वयं समाज के सामने वसंती के सहित उपस्थित होकर बाबा के घृणित अत्याचार को प्रकाशित करूँ। लेकिन क्षमा की देवी वसंती ने कहा—नहीं, जो व्यक्ति इतने अपराधों की जड़ है, उसको मुझे जरा भी इच्छा नहीं। वह अभागिनी मानव व्यथा के लिए ही छोड़ा था। मैं अब उस घर की तरफ कदम न दूँगी। गरीबी वह निर्गन्ध फूल है, जिसकी तरफ किसी की लोलुप दृष्टि नहीं पड़ती। मैं उसी में परिवृत हो जाना चाहती हूँ।

मैंने वसंती को हृदय से लगाकर अपनी जीवन-नौका अपार संसार-सागर में छोड़ दी। कोई आश्रय नहीं, कोई आलम्बन नहीं बस, एकदम निरीह और निरवलंब।

[५]

भाग्य कहें या दुर्भाग्य! हृदय तो उसे भाग्य ही समझ बैठा था। गई हुई चीज मिली थी, खोया हुआ खजाना हाथ लगा था। मैंने

बड़ी प्रसन्नता से जयंती को और जयंती ने बड़ी उत्सुकता से मुझे अपने पास खींच लिया था। हम दोनों ने एक दूसरे को पाकर फिर किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता नहीं समझी। इसी से जयंती के उद्धारक महोदय को बार-बार धन्यवाद देकर मैंने विदा कर दिया। उनके बार-बार अनुरोध करने पर भी मैंने उनसे और सहायता न ली। हम दोनों तो वैसे ही उनके अपार स्नेह से भार-ग्रस्त हो रहे थे।

उनकी ट्रेन छूट जाने के बाद शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि मैंने ठीक नहीं किया। कानपुर-जैसे शहर में धन-जन-हीन स्त्री-पुरुषों का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रहता। हम दोनों को उसी समय एक आश्रय को हाथों से ठेलकर दूसरे की तलाश में चलना पड़ा—पैदल ही; क्योंकि टिकट के लिए पैसे न थे।

गंगा के किनारे एक गाँव में हम दोनों ने आश्रय लिया। धीरे धीरे मेरा कुछ ऐसा अनुमान हो गया है कि अभी पृथ्वी पर परोपकार और स्वार्थ का समान रूप से द्वन्द्व चल रहा है। कहीं एक की जय होती है तो दूसरे की पराजय। अपने घर से निर्वासित होकर हमें दूसरे के यहाँ आश्रय मिला। गाँव के जमींदार ने हमें रहने को झोंपड़ी बता दी। टूटी-फूटी उस झोंपड़ी को हम दोनों ने बड़े परिश्रम से ठीक किया। उसकी फूस की टट्टियों पर कोहड़े और लौकी की बेलें चढ़ायीं। बाबा की खोज में शायद एक भूत और एक भूत के लिए पागल था। पर हम दोनों इस नवीन संसार में नवीन गृहस्थी का आयोजन कर रहे थे। कुछ सुख मिला, पर पन्द्रह दिन से अधिक नहीं। जयंती बीमार पड़ गयी। उसका शरीर खराब रहने

लगा। दिन भर अलसायी-सी, उदास-सी वह न-जाने क्यों पड़ी रहने लगी। मजदूरी करके चार पैसे लाना भी कठिन हो गया। एक दिन जाता तो दूसरे दिन नहीं। दरिद्रता के ऊपर विधाता का यह कोप वज्र-प्रहार के सदृश हुआ। बड़ी साध से जुटायी हुई गृहस्थी के अ जर-पंजर ढीले पड़ गये।

जयती की दशा देखकर जी नहीं होता था कि उसे कुछ काम करने दिया जाय, पर वह न मानती थी। अनाज की जगह पिसा हुआ आटा ले आता तो झिड़कती, चूल्हा फूंकने बैठ जाता तो फीकी मुसकुराहट से मना करने की चेष्टा करती। अब जानता हूँ, भारतीय गृहस्थ का सुख भी कितना सुखमय होता है।

धीरे-धीरे विवशता बढ़ गयी। कमजोरी के कारण उसे सब कुछ छोड़ देना पड़ा। अब तो वह पृथ्वी पर पड़े-पड़े, या कभी फूस की टट्टी के सहारे बैठकर, मेरे क्रियाकलाप पर अपनी प्रेम-पूर्ण दृष्टि का अंचल बिछाये रहती थी।

गंगा की बाढ़ ने गाँव की सारी विभूति स्वाहा कर दी थी। गाँव भूखों के आर्त-नाद से व्यथित था। किसी को हमारी फिक्र न थी। घर से बाहर जाने पर कहीं दो पैसे की आशा न थी। अतिसार, संग्रहणी आदि उस रोग-परिवार में से हैं, जिसमें मट्ठा, दूध और खिचड़ी का पथ्य दिया जाता है, शाक और कोहड़े जैसा शाक, विशेष तौर से वर्जित है। पर मैं क्या करता। अपनी जयती के लिए मैं किसी दूसरे पथ्य की व्यवस्था ही न

कर सका। उस समय राग और उसका विषय भी कुछ मालूम न था। अज्ञानता में बड़ी निश्चिन्तता होती है। उस समय मैं कोड़े का शाक खिला-खिलाकर ही उसे अच्छा करने की आशा कर बैठता था। वह भी बड़े स्वाद से, बड़े चाव से, अमृत की तरह उसकी प्रतीक्षा करती थी।

ऐसी परिचर्या का जो नतीजा हो सकता है, वही हुआ। मैं अज्ञान था सही, पर प्रकृति तो सतर्क थी। सिर्फ मुझे शोक रह गया है, तो यही कि उसे अन्त में एक नहीं, पूरे दो दिन वह कोड़ा भी न मिल सका। मैं दो चार पैसों की मजबूरी को मारा मारा फिरा, वह भी न मिली। उसके बाद उसी कोड़े की बेलि में फल भी निकले और मैं रोजी से भी हाथ गया हूँ। मेरी जयन्ती के मन में यही एक कसक चली गयी कि मैं किसी काम के योग्य नहीं हो सका।

[सात]

यह बात नहीं कि अब मुझमें कुछ योग्यता आ गयी हो। मैं तो वैसा ही लट्ठ गंवार हूँ। कुदरत का परिहास है। जब जरूरत नहीं थी, तब एक-एक बूँद के लिए तरसा डाला ; अब जब दरकार, नहीं, तब सागर सामने उँड़ेल दिया।

जयती को गंगा मैया की गोद में समर्पित करके सोचा था कि मेरे सांसारिक सुखों का भी विसर्जन हो गया। उसी धुन में गरीबी की विलास-कक्ष उस कुटिया की परिक्रमा करके मैं उद्देश्यहीन पथ की ओर चल पड़ा था। किसी बात की इच्छा न थी कोई अभिलाषा न थी।

पहाड़ों की निर्जन भूमि से होकर मैं चुपचाप चला जा रहा था। रास्ते में एक मार्गभ्रष्ट देशी साहब से भेंट हो गयी। उन्हें सीधा मार्ग बताने के लिए उनके साथ हो लिया। मेरे उदास चेहरे की स्पष्ट लिपि को बाँचकर उन साहब ने कई प्रश्न कर डाले। उत्तर न दे सका। मन भारी हो गया। आँखों से कुछ आँसू ढुल-ढुलाकर गिर पड़े।

पथिक महोदय ने सांत्वना न देकर मेरे अवरुद्ध प्रवाह को बिलकुल निर्दम्भ भाव से बह जाने का मौका दिया। खूब रो चुकने के बाद जी कुछ शान्त हुआ। मैंने रुककर कहा—यही सीधा रास्ता है।

मैंने लौटना चाहा। पर उन्होंने कहा—नहीं, अब इस समय कहाँ जायँगे? चलिए, एक दिन मेरे यहाँ विश्राम कीजिए।

बहुत हाथ-पैर छटपटाये पर उनका अनुरोध कम न हुआ। लाचार मैं साथ हो लिया।

वे डाकखानों के सुपरिण्टेण्डेण्ट थे। एक बगीचे में उनके डेरे पड़े थे। उन्होंने मुझे बड़े आदर से ठहराया, फिर मेरे जीवन के क्रुद्ध प्रवाह को इस नौकरी-रूपी बाँध से रोक दिया। शीघ्र ही मैं इस अपनी जगह पर आ पहुँचा। रहने को छोटा-सा क्वार्टर है, काम करने को एक टेबिल-कुर्सी-युक्त दफ्तर है। बाहर नीम की सघन शीतल छाँह है। दाहिनी तरफ छोटी-सी बस्ती है और बायीं तरफ क्षितिज तक फैले हुए हरित-श्यामल खेत।

इन सब ने मेरे व्यथित मन को रमा रक्खा है। सबसे अधिक

मेरी ममता को उत्तेजित किया है मेरे मातहत डाकिया कल्लू की काली-कलूटी नव-वर्षीया पोष्य-पुत्री सुखिया ने। वह मुझे खाना बनाने और चूल्हा जलाने आदि में सहायता देती है और बदले में मैं उसके साथ तरह तरह के खेल खेलकर उसके सम-वयस्क साथियों का अभाव दूर कर देता हूँ। दिन बड़े मजे से उड़े जा रहे हैं। आज सुपरिन्टेण्डेण्ट साहब आये थे और मुझसे पूछा—कहो, जी लगता है !

मेरी समझ ही में नहीं आया कि क्या कहूँ। चपल सुखिया ने मेरी तरफ से कह दिया—खूब लगता है साहेब!

सुपरिन्टेण्डेण्ट मुस्करा दिये और मैं भी। अभी तक डाकखाना अस्थायी (Experimental) था और मैं भी। पर आज से दोनों स्थायी कर दिये गये।

मृत्यु-शैया

राधे ! तुम्हें मालूम नहीं, मैं सदा से असहाय हूँ । आरोग्य दुखित निरादृत की एकमात्र अवलम्ब ! क्या उसे तड़पते हुये अकेले छोड़ जाना तुम्हें उचित है ? खोल दो तनिक अपनी आँखें । देखो यह अन्धकार सारे घर में फैलने न पावे—कहकर चरन ने रोगिनी पत्नी की चारपाई पर सिर टेक दिया ।

राधा ने बड़े कष्ट से आँखें खोलकर और कराहकर कहा—मैं अच्छी हूँ । क्यों भी क्षोभ करते हो ? तनिक कला को गोदी में लेकर घुमाओ तो । बेचारी दुखी हो गई है । तनिक मेरी बच्ची को ले लो ।

चरन—हाँ, इसी तरह हुक्म देती रहो मेरी स्वामिनी । देखो, मैं बच्ची को लिये लेता हूँ । आओ—आओ मेरी बेटी कला । डरो नहीं । तुम्हारी अम्मी अभी अच्छी हुई जाती है ।

राधा—हाँ, ठीक है ।

चरन कला के मुख को बार-बार चूमने के बाद रोगिनी की ओर देखकर—ठीक तो है, पर यह क्या ? पलकें क्यों झँपती हो ? देखो न, मैंने कला को गोदी में ले लिया है । तुम जरा उसके सिर पर हाथ फेर

हो। कह दो, वह डरे नहीं। अब लो, तुम तो बोलती ही नहीं। इससे तो मैं तक डरने लगता हूँ फिर यह तो अबोध बालिका है।

राधा—मैं कहती जो हूँ चिन्ता छोड़ दो। कौन सदा बना रहता है! मेरी जैसी सौभाग्य मृत्यु तो बहुतों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। तुम तो समझदार हो। अधीर क्यों होते हो! ईश्वर की इच्छा होगी तो अपने वैभव और कला को लेकर रहना लेकिन अभी कौन जानता है क्या होगा!

चरन—राधे! तुम मुझे धोखा न दो। मैं यह एक भी बात नहीं सुन सकता। मालूम नहीं, अब इस हृदय में थोड़ा भी आघात सहने की शक्ति नहीं रह गई है। मेरे इस जीवन में कितने असहनीय कष्ट नहीं आये और मैं सबको सह सका हूँ किन्तु आज का यह दुःख असहनीय हो रहा है। प्रियतमे! यह बड़ा-सा मकान यह वैभव यह ठाट बाट मेरा नहीं है। यह सब तो मेरी लक्ष्मी तुम्हारे भाग्य का है। इसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ; और इसी से चाहे थोड़ा बहुत इन बच्चों के हिस्से में भी पड़ जाय। नहीं तो मैं एक अभागा प्राणी हूँ।

राधा ने अपनी दोनों क्षीण बाँहें चरन के गले में डाल दीं और रोकर कहा—यह क्या कहते हो! अपने सौभाग्य की इस सुनहली जुगल जोड़ी को देखो। परमात्मा से प्रार्थना है वह इन्हें चिरंजीवी करे और अब मेरे लिए चिन्ता करना छोड़ दो।

अँधेरी रात थी और सरदी का भयानक मौसम। हाथ पैर बर्फ हो रहे थे। चरन की गोद में कला मुरझाई पड़ी थी। पास ही एक दूसरे

बिस्तर पर अबोध बालक बेहोश सो रहा था। मोमबत्ती जलकर समाप्त प्राय हो चुकी थी। चरन की आँखों से गरम-गरम आँसू की बूँदें बराबर झरझर कर गोद में पड़ी बच्ची के कपड़ों को भिगो रही थी। रागिनी की निश्चल बाँहें स्वामी के गले में पड़ी थी।

अकस्मात ममता का बंधन टूट पड़ा। मोह की बत्ती शिथिल निर्जीव होकर बुझ गई। दीपक का निर्वाण हो गया। चरन ने व्याकुल कंठ से पुकारा—मेरी रानी! मेरी स्वामिनी!—प्रिये! राधे! तुम क्यों रूठ रही हो! एक बार, केवल एकबार अपनी बाँहें इस गले में और डाल दो। आह! यह अँधेरा कैसा विकट है! महाप्रलय की रात मालूम पड़ती है। दीपक, आलोक, उजाला, प्रकाश! कहाँ हो प्राणेश्वरी! एक किरण—केवल एक झलक!

[दो]

चरन का नाम जिस ज्योतिषी ने विचारा था उसकी आँखों की दृष्टि चाहे जैसी रही हो, पर उसकी विद्या-बुद्धि में कसर न थी। उसने केवल नाम के तीन साधारण अक्षरों में जैसे उसके जीवन का सारा भविष्य अंकित कर दिया था। चरन सचमुच बचपन से चरणों की तरह झुकी, उपेक्षित और अनादृत रहा।

कहने को वकील का लड़का था। घर में खाने की कमी न थी। पर विशेष सुविधा भी न थी। माँ जो प्यार करती और कर सकती थी वह घर की स्वामिनी होकर भी दासी—नहीं भिखारिणी थी। भाग्यहीन चरन

उसी अभागी माँ के उदर से जन्मा था।

माँ का नाम ही सिर्फ वसन्ती था वैसे न उसमें वसन्त का सा मादक रूप था न वैसी बहार। वैसी रूपहीन वह थी वैसा ही था उसका भाग्य। स्वामी ने कभी उसे प्यार नहीं किया था। वह रूप वंचिता रस वंचिता, प्यार और स्नेह वंचिता अबला भी दुखी निरादृत और निरवलम्ब! लेकिन उसकी विरूप आकृति और भद्दे बेडौल जिस्म में छिपा था अनन्य प्रेम का महासागर जिसे कभी किसी ने पूछा न था, जिसका कोई ग्राहक न था।

गँवार और कुरूप की सुशिक्षित पुरुष की पत्नी बने इससे अधिक अपराध और क्या हो सकता है! शासन विधान में इसके लिए चाहे कोई धारा न हो पर नये निकले हुये वकील की प्रतिभा कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेती है। चरन के पिता ने अपनी वकालत की कार्य-वाही पहले पहल अपने घर से ही आरम्भ की। मनोविज्ञान पढ़ा था। उसकी सहायता से ही आरम्भ किया। दिन में चार चार बार स्त्री की पेशी होने लगी। कभी दाल में नमक की शिकायत कभी पान में चूने के लिए पेशी, कभी बिस्तर पर सलवटों के लिए भर्त्सना। आरोप बढ़ते ही जाते थे। पर जब बोलने का मौका आता तो दम रुक जाता। हिन्दुत्व के विधाताओं की बुद्धि की बलिहारी! उन्होंने तलाक का कहीं जिक्र ही न किया था।—न सही, पर इससे क्या घर के काम-काज रुक जाते हैं!

वकील साहब को बनाने में विधाता ने जैसी बुद्धिमत्ता से काम लिया था वैसे ही उसने वसंती को जरूरत से अधिक सरलता और कुरूपता

देकर अपनी बुद्धि का भी डंका पीट दिया था। अनेक तरह के कष्ट और नई नई असुविधाएं भी उसकी सदा मग न होती। अपने करुण जीवन का उसे भान ही न था। उसमें न अभिमान था, न गर्व। स्वामी कहते खड़ी हो, तो खड़ी हो जाती। वे हुक्म देते बैठ जा, तो बैठ जाती।

उसके इस भाव से वकील साहब मन ही मन कल मुन कर कहते—बड़ी मूर्खा है।

वह भी चुपचाप सिर झुकाकर स्वीकार कर लेती। उसने कभी एक क्षण के लिए भी स्वामी के कथन पर अविश्वास न किया था। वह सचमुच अपने आपको वैसा ही समझती थी, जैसा वकील साहब क्रोध में आकर कह जाते।

उसका कोई काम स्वामी को पसंद नहीं आता, पर घर के प्रायः सभी काम करने उसी को पड़ते थे और हर काम के साथ सुननी पड़ती थी लाखों फटकार। ऐसी स्त्री के स्वामी बनकर वकील साहब भी परेशान थे। उनका महत्वपूर्ण जीवन व्यर्थ की झक-झक और दुश्चिन्ता में जाता था। वैवाहिक जीवन की कैसी मनोहर कल्पनाएं कर रक्खी थीं उन सब पर गँवार-कुरूप और मूर्खा बसंती ने पानी फेर दिया था। कचहरी से जब लौटकर आते, तो कभी वह द्वार के पास उत्सुकता से प्रतीक्षा नहीं करती होती। कभी कभी रूप सौष्ठव की बात विधाता का अभिशाप मानकर भूल भी जाना चाहते थे, पर बसंती की मूर्खता कोई मनाली पद पद पर उसका स्मरण दिला देती थी। जब वे चाहते कि वह बाजार से साड़ी और आभूषण ला देने के लिए आग्रह करे तो उस समय बसंती बड़ी नम्रता से

चूल्हा फूँकने में लगी रहती । जब वे चाहते कि वह उनकी पुस्तकों में से किसी सरस उपन्यास को लेकर पढ़ने बैठ जाय और उसके विषय की आलोचना करने के लिए उन्हें कचहरी जाते समय थोड़ी देर रुकने के लिए अनुरोध करे, उस समय वह उनकी नहाई हुई काली कोठरी होती या बाबा आदम की पुरानी रामायण की पोथी लेकर ध्यान मग्न होती। कभी प्रेम पत्र लिखना न जानती थी। कभी हाव भाव दर्शाना न जानती थी। न 'प्रियतम' कहकर कभी प्रेम निवेदन करती थी। इस शुष्कता और नीरसता ने उसके रूप को और भी स्वामी की नजरों में मांदा बना दिया था।

[तीन]

यह विषय अब तक विवाद ग्रस्त है कि पाँच साल के बालक चरन को झोकर बसन्ती स्वयं कहीं चली गई या वकील साहब ने ही किसी तरह उससे पीछा छुड़ा लिया। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि बेचारा चरन बिना माँ का रह गया।

बसन्ती का कहीं पता न लगा। लेकिन स्त्रियों का पता न लगने से पुरुषों के जीवन में कोई प्रभाव आजाता हो यह बात नहीं तथापि वकील साहब ने मन ही मन उसे बहुत अनुभव किया। क्योंकि बसन्ती को न सही तो वे चरन को तो प्यार करते ही थे। बच्चे की ममता उन्हें उसकी याद दिलाये बिना न रहती जिसके लिये उनका जीवन सदा घृणा के भाव से भरा था।

बच्चे के लालन-पालन के लिये हो, चाहे अपने आराम के लिये, उन्होंने शीघ्र ही दूसरा विवाह कर लिया। स्त्री आई सुन्दरी पढ़ी-लिखी, अप-टू-डेट। उसने वकील साहब के कटु जीवन में अपूर्व मिठास पैदा कर दी; पर बेचारे चरन की दशा में कुछ भी परिवर्तन न हुआ। वह उसी तरह पिता के निष्फल प्यार और माता के उपेक्षित प्यार में अपने बचपन के दिन व्यतीत करता रहा।

सातवीं साल में वह स्कूल में पढ़ने गया। उसके भोले चेहरे और शिष्ट स्वभाव में एक जादू था, जो सब पर असर डालता था। पिता उसके ऊपर कृपालु थे। विमाता का भाव भी कोमल हो चला था। सौभाग्य के सुनहले स्वप्न आने में देर न थी। वह मन-ही मन प्रफुल्लित हो रहा था। यकायक विमाता का भाव बदल गया। वह फिर चरन से खिंची रहने लगी; पर उसकी समझ में कुछ न आया।

उसकी पैतृक सम्पत्ति चाहे कितनी ही थोड़ी क्यों न थी पर वह अब तक उसका अकेला उत्तराधिकारी था। अब उसका वह अधिकार भी बँट जानेवाला था। यही नहीं धन सम्पत्ति के अतिरिक्त पिता और विमाता का प्रेम भी उस पर न रहा। न जाने कितने जन्मों की शत्रुता का बदला लेने के लिये विमाता के गर्भ से एक बालक ने भाई बनकर जन्म लिया। भाई का स्नेह मधुर स्थान लेकर एक राहु उदय हुआ जिसने अभागे चरन के समस्त सुखों का ग्रास कर लिया।

[चार]

चरन स्कूल में पढ़ता था। उसकी विमाता सुन्दरी और पढ़ी

लिखी थी। वकील साहब ने इस शादी में अपनी सुरुचि का पूरा उपयोग किया था। वधू चुनने में उन्होंने बिलकुल नये ढंग से काम लिया था। पहले से गुप्त वार्ता का। कभी-कभी परख नहीं हो पाती। इसलिए उन्होंने लड़की स्वयं देखकर पसन्द की थी। इसीसे धर्मसमाजी होने पर भी ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों में श्रद्धा रखनेवाली वधू से उनका ग्रन्थि बन्धन हो गया। पर वामा के लचीले स्वभाव ने इस मतान्तर की खाई का दुर्लंघ्य न होने दिया। वधू समाज के उत्सवों में बेरोक-टोक जाती थी। स्वामी अपने सम्प्र विश्वास और धार्मिक विचारों के अनुसार काम करते थे। एक समय था जब बसन्ती का रामायण पढ़ना उन्हें अखर जाता था, पर उसके अदृश्य हो जाने के बाद से उन्हें रामायण की ओर विशेष रुचि हो गई थी। न जाने क्यों, पर फिर भी वधू पुष्पा में पूरी-पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता थी। नवयुग की नई रोशनी में पारसी का कायाकल्प हो गया था।

स्वतन्त्रता और स्वाधीनता के भी अवस्था भेद से रूप बदला करते हैं। जबतक किसी धार्मिक चिन्ता का सामना नहीं पड़ा तबतक मन में बसता गया, पर जब श्रीमती के लिये लागे के पैसे एक अर्थ का बोझ प्रतीत होने लगे तो धार्मिक मतान्तर का कुत्सित रूप कुछ कुछ स्पष्ट हो चला।

किसी सम्प्रदाय की हो, स्त्रियों में धार्मिक विश्वास का आधिक्य होता ही है। वे जिस बात को मानती हैं अन्तःकरण से मानती हैं। वकील साहब के इशारा करने पर भी श्रीमती ने समाज में जाना नहीं छोड़ा। अधिक और नियमित हो गई पति-पत्नी की इस पारस्परिक खींचातानी में धार्मिक समस्या और उलझ गई। विश्व के आदिकाल से जो होता आया

है अन्त में वही हुआ । रमणी का हठ रहा, पुरुष को घुटने टेकदेने पड़े । पूर्ववत् किराये का तांगा भमिता को समाज मन्दिर की ओर ले जाता रहा । हां थोड़ा-सा अन्तर यह अवश्य हुआ कि बारह रुपया महीने का एक नौकर मुकर्रर किया गया, और चरन, जो स्कूल से आकर अपना समय और पिता का आठ दस मासिक बरबाद करता था उसकी जगह पर का काम काज देखने लगा ।

वकील साहब ने कुछ विरोध नहीं किया इसलिए यह नहीं कह सकते कि उन्होंने इसे पसन्द नहीं किया । चरन नौकरों के स्थान पर आ गया और नौकरों के स्थान पर आसीन होने से ही अभ्युदय का प्रारम्भ होता है ।

जहां चरन के समय को इतना सस्ता बनाया था, वहीं विधाता ने बचपन से ही उसे कुशाग्र बुद्धि देकर बड़ी समझदारी का काम किया था । पढ़ना-लिखना छोड़कर घर की टहल करते करते ही वह अक्सर अपने जीवन की आलोचना कर लेता था । वह मनही मन जानता था कि विमाता के जिस बच्चे को वह गोद में लेकर पुचकारता और गालों पर चढ़ाकर टहलाता है वह यदि बड़ा होने पर इतना कृतघ्न न हुआ कि उसे घर से निकाल दे तो भी बड़े भाई का पद तो कदापि न दे सकेगा । अपने पिता के घर में हर समय, हर बात में, परायापन अनुभव कर उसके जीवन का रस-स्रोत सूखा जाता था ।

लड़कों में बचपन की जो उमंगें होती हैं, जिस चपलता और वाचालता से उनका जीवन सुहावना बना रहता है, वे उसमें कहां से

भाती ! उसने न कभी लाड़ जाना था, न दुलार । एक बार भी कभी किसी बात के लिए रूठकर उसने माँ बाप को घुटनों के बल न झुका पाया था । कभी इठलाकर चलने की क्षमता उसमें न आई थी, पर वही दुर्बल कायर चरम पुरुषार्थ का पुतला बन गया । ज्योंही उसने सुना कि उसकी माँ हरिद्वार में है, वहीं गंगा-तट पर वह फूल बेचती है, त्योंही वह पिता के घर से बाहर हो गया । हरिद्वार कहाँ, किधर, कितने मील है, यह सोचने का कष्ट उसने नहीं उठाया ।

जिसके पास खाने को एक पैसा नहीं, ओढ़ने-पहनने को कपड़े नहीं वह अस्थि-सा बालक इतने मील का सफर करने के बाद, कितने कष्ट झेलकर हरिद्वार पहुँचा होगा इसकी यथावत् कल्पना सब कोई नहीं कर सकते । केवल माँ का प्यार उसे वहाँ खींच ले गया । तकलीफों को उसने मार्ग के फूल समझा ।

उसने हरिद्वार की गली-गली छान डाली । जितनी मालिनें गंगा तट पर फूल बेचती थीं उन सभी को अपनी करुण कहानी से एक-एक बार उसने बता दिया पर माँ का कहीं पता न चला ।

माँ को न पाकर वह निराश था । अब चारों दिशाएं उसके लिए समान थीं । हरिद्वार की जगमगाती गलियाँ उसे सूनी प्रतीत होती थीं । एक दिन वह गाड़ी में सवार हो लिया । गाड़ी कहाँ किधर जायगी इस दुविधा में पड़ना उसने उचित नहीं समझा ।

मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं । भूख-प्यास से मुँह सूख रहा था गाड़ी वायुवेग से जा रही थी । उसी चलती गाड़ी में एक टप-चार्ज था

पहुँच आया। सब लोग उस अपना अपना टिकट दिखाने लगे। चरन का दिल धड़क कर जाने लगा। जब बाबू ने उसकी ओर फिरकर टिकट मांगा तो उसके मुँह के अन्दर आम अटक गई और वह सिसक-सिसक कर रोने लगा।

एक महाशय बड़ी देर से चरन की दशा पर मन ही मन तरस खा रहे थे। उन्होंने बच्चे को विपत्ति में पड़ा देखकर कहा—यह लड़का मेरे साथ है। इसके टिकट के दाम मुझसे लीजिये।

जेब से मनीबेग निकाल कर रुपये गिन दिए और रसीद लेली। चरन मन ही मन बहुत लज्जित और संकुचित होकर आँसू पोंछने लगा। थोड़ी देर में उन महाशय ने कहा—लो बच्चा! यह रसीद। इलाहाबाद तक का टिकट है। तुम कहाँ ठहरोगे?

चरन ने काँपते हुए हाथों से रसीद लेली पर उनकी बात का कुछ उत्तर न दे सका। उन्होंने फिर पूछा—तुम्हारा घर कहाँ है?

उत्तर में चरन ने रो दिया।

[पाँच]

सुन्दरलाल को मालूम हुआ तो वे चरन को अपने साथ ही ले आये। एक अपरिचित घर में अनायास आकर चरन ने माँ-बाप दोनों को पा लिया। जिस अभाव की ज्वाला से उसका जीवन जल रहा था, वह न रहा। सुन्दरलाल सचमुच उसे लड़के की तरह रखने लगे। उनकी गृहिणी माँ की तरह उसकी खबर लेने लगीं। दोनों स्त्री-पुरुषों

से भी अधिक सरस और सौन्दर्यमय बनाने लगी उन दम्पति की सन्तानों हँसमुख कन्या राधिका ।

सुन्दरलाल बहुत मामूली हैसियत के आदमी थे । उनके पास कोई ऐसी जायदाद न थी जो वे किसी को वसीयत कर जाते । उनका हृदय बड़ा विशाल था । उन्होंने किसी तरह चरन को पढ़ाकर एन्ट्रेन्स पास करा दिया । किन्तु उसका नतीजा भी न निकलने पाया कि वे अचानक स्वर्गवासी हो गये । उनके थोड़े दिन बाद ही उनकी धर्मपत्नी भी चल बसीं, किन्तु अन्त समय में अपने स्वामी की अन्तिम अभिलाषा पूरी कर गईं । चारपाई पर लेटे-लेटे ही उन्होंने चरन और राधा का अपने सामने ही भाँवरें फिरवा दी । यह विवाह भी अनोखा था । उसमें बाजे नहीं बजे; उत्सव नहीं हुआ । चरन भी रोता था, राधा भी रोती थी, और सरस्वती, राधा की स्नेहमयी माँ, मृत्यु-शैया पर पड़े पड़े कन्यादान कर रही थी । भाँवरों के कुछ घंटा बाद उनकी अर्थी निकली । मालूम पड़ता है इसी वसीयत के लिए उनके प्राण शरीर में अटक रहे थे ।

[छः]

जिस स्नेह और सौजन्य से, जिस आशा और अभिलाषा से सरस्वती और सुन्दरलाल ने अपनी स्नेहमयी दुहिता पद के भिखारी चरन को अर्पित की थी जीवन भर पूरी तरह से उसका आदर और मान करने में कुछ उठा नहीं रखा था, उनकी उस अनूठी विभूति को चरन ने भी सदा अपनी पलकों पर ही रखने में गौरव समझा ।

उसने भी हाथभर धनराशि इकट्ठी की। मकान बनवाया। अपनी हृदयेश्वरी की एक-एक इच्छा को पूर्ण करने का सतत प्रयत्न किया। राधा सचमुच अपने प्रेम और लावण्य के कारण उसे उतनी प्यारी न थी जितनी सास-ससुर की स्मृति के कारण। इसीसे आज जब वह नहीं है तो उसका संसार सूना हो गया है। कला और वैभव उसके उस अभाव की पूर्ति नहीं कर पाते। गत जीवन की एक-एक स्मृति उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगा रही है।

कुटी में जब समय नहीं कटना चाहिए, तब वह चुपचाप सिसक उठता है इतने धीरे से कि पता भी नहीं चलता पर दुःख में एक-एक पल कटते कटते बुढ़िया की हजार बार मृत्यु हो चुकती है। शून्य उदासी से वह भभक उठता है। स्मृतियों से आँखें धुल जाती हैं। आज राधा की नहीं, वरन् उसके समस्त सुखों की मृत्यु हो गई है और अब शायद इस जीवन में फिर कभी उसमें मोद-रस प्रवाहित नहीं होगा।

विरोधी

उत्तर-दक्षिण दिशाओं में जिस विरोध-भाव की सूचना है, आक पाताल के बीच जिस अपरिसीम अन्तर का विधान है, ठीक उसी प का हम दोनों के जीवन में योग था। मैं उसके हर काम को घृणा, द्वे और द्वेष की दृष्टि से देखता। वह भी मेरी बात बात पर कड़ी मुनी का से अभिव्यक्त करने में ही सन्तोष पाता।

यह क्यों हुआ, कैसे हुआ?—आदि बातों का उत्तर पूछो, कुछ भी नहीं। मैंने उसे पहली बार स्कूल में देखा लड़कों से सुना— पढ़ने आया है। किसी ने उसका नाम लिया—धनानन्द।

मेरे मन में न जाने क्यों, देखते ही उसके प्रति अनन्त घृ का समुद्र उमड़ पड़ा। मैंने अपने तमाम उपास्य देवों के द्वार खटख डाले। सबसे नहीं, केवल यही, प्रार्थना की—हे देव! हे प्रभुवर इस वस्तु को यहाँ से लोकान्तरित कर सको, तो मात्रा अनुकम्पा का म बहुत कुछ हल्का हो जाय।

धनानन्द के नाम का प्रत्येक अक्षर मेरे कानों में शूल की तर चुभने लगा। मैं उसके सीधे नाम को सह न सका। मैंने उसमें थोड़ परिवर्तन कर देना आवश्यक समझा। मैंने उसका नाम घृणानन्द र

देखा। गुलानन्द के प्रति मेरी घृणा और ईर्ष्या और भी प्रबल हो उठी। मुझे मालूम हुआ, कि वह स्कूल में भर्ती हो गया है। यही क्यों, वह मेरे दर्जे ही में, मेरे ही सेक्शन में लिया गया है। मैं उसे जितना ही दूर चाहता था, वह उतना ही मेरे पास आकर खिसक गया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि साँप आस्तीन में घुस आया।

और इतनी हुई कि मेरे पास खाली सीट होने पर भी मास्टर ने उसे मुझसे दूर ही रक्खा। मैंने बूढ़े मास्टर की काँपती हुई अक्ल को धन्यवाद दिया।

उसने इधर से उधर दृष्टि दौड़ाकर कुछ देर में कमरे की सारी मूर्तियों का परख लिया। मुझे भी देखा—साँप की तरह फुफकारते हुए। मैंने समझा, उसने मुझे पहचान लिया। बात भी सच थी।

मास्टर चले गये। खाने-पीने की छुट्टी हुई। सभी लड़कों से, जैसा उनका गठबन्धन हो गया। इतनी जल्दी ऐसा हेल-मेल! मेरी भी गर्मी बढ़ रही थी। लेकिन एक आँख और एक कान उसी की ओर लगे थे और शायद उसके मेरी ओर।

मैं उसे अपनी ओर फुफकारते हुए समझता रहा था, वह मुझे मुस्कुराते हुए।

उस दिन यहीं तक हुआ। गुलानन्द छुट्टी के बाद घृणा और विद्वेष की आग बसाकर अपने घर चला गया। मैं अपने यहाँ चला आया और उसे सुरक्षित रखने का यत्न करने लगा।

दूसरे दिन भस्माच्छादित चिनगारी ज्वालारूप में प्रकट हुई। मैं

पढ़ रहा था। मास्टर ने कोई शब्द पूछ लिया। मुझे न आया। मैं चुपचाप खड़ा था। कृपानन्द ने झट से हाथ ऊँचा कर दिया। मेरे शरीर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक कड़वा विष भर गया। मैंने कड़ी से कड़ी नजर से उसकी ओर देखा।

शाम को खेल हुआ। उसमें भी हम दोनों का स्पष्ट विरोध-भाव देख पड़ा। बात-बात में विरोध था—कड़ा, तीव्र और अनुचित। वह मेरे हरएक प्रस्ताव को उखाड़ने में कसर नहीं छोड़ता। मैं भी उसकी कोई बात लगने नहीं देता।

मेरे जीवन का सारा रस विष हो गया था और शायद उसका भी।

[दो]

मेरे दर्जे के दो सेक्शन थे। कुल पचहत्तर लड़के होंगे। मैं सबसे तेज था। कभी किसी ने मुझे किसी विषय में परास्त नहीं कर पाया था। मुझे और मेरे मास्टर दोनों को मेरी प्रतिमा और कुशाग्रबुद्धि का गर्व था। अभी तक वह गर्व हिमाचल की तरह दृढ़ और अचल चला आ रहा था; कृपानन्द ने आकर उसे भी हिला दिया। ऐसा दृढ़, ऐसा मेहनती और ऐसा सिपाही कोई लड़का शायद मास्टरों की याद में भी भर्ती न हुआ था। मेरी सर्वतोमुखी प्रतिमा जब कई बार उसके सामने कुण्ठित हुई तो मेरी आँखें खुलीं। मास्टरों की उसके ऊपर कृपा बढ़ने लगी। मेरा उसके प्रति रोष उत्तेजित होने लगा।

इतना तेज होने पर भी किताबों में जी न लगाने की मैंने कसम खाई थी। अकल भी नहीं थी फुरसत भी नहीं थी। कुछ लापरवाही थी, कुछ बचपन था—और कुछ थे खेल-कूद, आनन्द और विनोद। ज्ञान-अर्जन के लिए नहीं, पूर्णानन्द के लिये, समस्त विश्व की पूजा उत्पादन करने की खातिर मैं अपनी समस्त शक्ति से पढ़ाई में लग गया।

घर के लोगों को ताज्जुब था। भाई थ। मेरे न पढ़ने की सदा शिकायत थी वे प्रसन्न हो गये। मां का मेरी तन्दुरुस्ती की चिन्ता सताने लगी। बार-बार बापूजी के सामने मेरी लगन की चर्चा चलाकर बात का अच्छी तरह प्रसिद्ध कर दिया केवल नई भाभी ने मेरे इस नये कार्यक्रम का पसन्द नहीं किया। जरा हँसने बोलने का सुयोग था, वह भी गया।

मैं अपने काम में लगा रहा। भूगोल विज्ञान और गणित इन विषयों पर विशेष ध्यान पड़ता थी। शेष विषयों में अभी मैंने पूर्णानन्द का आधिपत्य नहीं माना था लेकिन फिर भी मेहनत हरएक में करता रहा।

शहर में प्रसिद्ध राममूर्ति का सर्कस आया। बापूजी ने कहा, मां ने कहा, पर मैं नहीं गया। भाभी का भी अनुरोध नहीं माना। भाई और पड़ोस की श्यामा-कृष्णा दोनों लकड़ियां जाकर देख आईं। उस समय मैं विज्ञान में तल्लीन था। छमाही इम्तहान का बीस दिन से भी कम समय रह गया था।

दूसरे दिन सुना पूर्णानन्द सर्कस देख आया है। वह कक्षा में खूब लम्बी-चौड़ी हांक रहा था। इन दिनों मैंने अपनों में गणित श्यामा भी

छोड़ दिया था लेकिन पुष्पानन्द शायद बराबर भाग लेता था। उसकी वैसी ही दिलचस्पी थी, वही रफ्तार थी।

मैं कहता था—ठीक है,लेकिन नतीजे के बाद मालूम पड़ा,कि अवश्य ही वह भी मेरे लिए यही कहता रहा होगा। मेरी उसकी भाषाओं में भेद था—उसकी उर्दू थी, मेरी हिन्दी। विज्ञान, भूगोल और गणित में उसके नम्बर अधिक आये; लेकिन डिवीजन मेरा बढ़ गया। गौरव बढ़ गया, ऐसा मैंने समझ लिया। हिन्दी के पंडितजी को धन्यवाद दिया।

गणित और विज्ञान बङ्गाली मास्टर पढ़ाते थे और भूगोल एक अमेरिकन। दोनों ने मुझसे पूछा—वर्मा जी, तुमको क्या हो गया था!

'मुझको तो कुछ भी नहीं हो गया था। पहले से हर एक पर्चा अच्छा ही किया था। कुछ पुष्पानन्द इससे भी अच्छा करेगा, इसका भला मुझे क्या पता था! यही सोचकर मैं चुप रह गया।

[तीन]

जीवन में मेरी टक्कर उससे छोड़कर और किसी से नहीं हुई। इसका कारण पूर्वजन्म के किसी संस्कार के सिवा और क्या हो सकता है। जो लोग इस सिद्धान्त के कायल नहीं, वे कोई दूसरा कारण भी समझ सकते हैं।

हम दोनों ने हाई स्कूल साथ-साथ पास किया। जो डिवीजन मैंने पाया, वही उसे पाने का पूरा अधिकार था; लेकिन उसने नहीं पाया। स्कूल

में साथ साथ, कॉलेज में साथ-साथ, सभा-सोसायटी में साथ साथ लेकिन हमलोग एक दूसरे के कट्टर विरोधी और प्रबल शत्रु। आर्यकुमार सभा पुस्तकालय, हाकी के मैदान, डम्पर्स के रंगमंच और डिबेटिंग-क्लब हम दोनों के हौसले निकालने के स्थल थे। कहीं मार-पीट कर, कहीं गालियों की बौछार कर और कहीं प्रतिभा और विद्वत्ता से एक दूसरे का परास्त कर नीचा दिखाना चाहते थे। ड्रामा में शायलाक बनकर मैं सचमुच ही एन्टोनियो (पुष्पानन्द) का एक पौंड मांस काट लेने की घृणित चेष्टा से छटपटा उठता। पोर्शिया का अभिनय और तर्कपटुता उतनी हृदयहारिणी न होती, तो मैं नाटक को सत्य घटना में परिणत कर देता।

पोर्शिया पाठकों के लिए नई चीज नहीं है।

पहले रचना और कृष्णा लड़कियों का जिक्र हुआ है। दोनों मेरे पड़ोस में पैदा हुई है—पली हुई हैं। अब दोनों ही कालेज में पढ़ती है। रचना उच्छृंखल है और कृष्णा सलज्ज। मैं अभी से कृष्णा पर अपना एक विशेष अधिकार मान बैठा हूँ। कृष्णा का पोर्शिया का अभिनय विख्यात है।

दोनों बहनों के सीलिया और रोजालिंड के अभिनय भी प्रख्यात हैं पर मुझे कृष्णा का रोजालिंड बनना उतना नहीं भाता। क्योंकि तब पुष्पानन्द ऑरलैंडो बनकर रस में विष घोल देता है। उस समय जी चाहता है, उठकर प्रलय मचा दूँ। कृष्णा मेरे मुँह से तारीफ के दो शब्दों के लिए कई बार सिर झुका चुकी है। पर मैंने परवाह नहीं की। वह मेरे रुख को पहचानती है। इसीसे चुप रहती है।

घरवालों को मेरे मेंबर होने की इन्तजारी थी। वह भी मैं हो

गया। तब वह शीघ्र ही कृष्णा मुझे मिल जायगी। यकायक पाँसा पलट गया। गुरु प्रयानन्द शुरू से मेरे लक्ष्य पर निशाना मारने का अभ्यास कर रहा था; लेकिन वह इतना बढ़ जायगा, यह भरोसा न था। श्यामा के पति उसके दूरस्थ संबन्धी थे। बस, उन्हीं के जरिये वह बाजी मार गया। कृष्णा उसके लिए, सुना रुक गई। शीघ्र ही पैंतालीस दिन के अन्दर बड़ी धूम धाम से ब्याह हो गया। कृष्णा ने मुझे भी निमन्त्रण दिया था पर मैं जाता क्या रोने के लिए? ऐसा भाव कभी आया न था। अभिलाषाएँ, इच्छाएँ और कामनाएँ सभी मृत हो गईं। लेकिन कृपानन्द की यह विजय चुनौती थी। मैं सब कुछ सहन कर सकता था लेकिन चलैंज नहीं।

कृष्णा की पराधीन और चपल मनोवृत्ति ने मुझे बहुत क्षोभ किया। मैंने थोड़े से अन्तर्द्वन्द्व के उपरान्त चिरकुमार रहने का दृढ़ संकल्प कर लिया। उस समय मुझे प्रतीत हुआ कि मैंने प्रयानन्द की विजय पर भी विजय पा ली है। इस तरह सहज ही शायद मेरा घाव पुर गया।

[चार]

ऐसी भीषण प्रतिज्ञा कर लेने के बाद मुझे लौकिक श्री-वैभव की परवाह नहीं होनी चाहिए थी पर ऐसा कहाँ हुआ। दूने परिश्रम, दूनी तेजी और चौगुने साहस के साथ मैं एम० ए, एल एल० बी० करने में लग गया। मुझे तो अपने चिर शत्रु से अब अच्छी तरह बदला लेना था। वह भी अभी तक मेरे कदम-से-कदम मिलाकर चला आ रहा था।

कृष्णा को पाकर उसका भाग्य चमक गया था पर मेरा भाग्य उसे खोकर एक अपूर्व प्रकाश से देदीप्यमान होनेवाला था। दोनों ने एक ही हॉल (कमरे) में बैठकर इम्तहान के पर्चे किये लेकिन दोनों की विचारधाराएँ विपरीत दिशाओं की ओर कल-कल करती हुई दुगुने वेग से बही चली जा रही थीं। मुझे पक्की खबर थी, उसकी पढ़ाई की इतिश्री यहीं थी। उसके पैरों में सुनहला बन्धन पड़ा था। वह पालतू कबूतर था। ममत्व को तोड़कर शून्य-नील गगन में अकेले विचरने की उसे स्वतन्त्रता न थी। मैं था निर्द्वन्द्व स्वाधीन और स्वच्छन्दगामी। उन्मुक्त विशाल विराट जगत् मेरी क्रीड़ास्थली था। मुझे रोकनेवाला कोई न था। मेरे ऊपर किसी का अंकुश न था। उसके संकुचित और सीमा-बद्ध सौभाग्य को अपने अनन्त अपरिसीम विकास के सामने नगण्य प्रतीत करके मेरा मन अपूर्व आह्लाद से आलोकित हो रहा था। वह शुभ दिन किस मुहूर्त में आवे, बस इसी की आतुर प्रतीक्षा में मेरी घड़ियाँ बीत रही थीं।

दोनों ने साथ-साथ एल-एल० बी० प्रथम श्रेणी में पास किया। यहाँ तक दोनों आत्माओं का स्वर एक ही तार से बोल रहा था। अब पार्थक्य होने में देर न थी। शीघ्र ही एक विभाजक रेखा दोनों के उद्देश्य, दोनों के जीवन के पथमार्ग, नये सिरे से निर्माण करने जा रही थी।

मेरी विलायत-यात्रा को अब उंगलियों पर गिने जाने लायक दिन रह गये थे। कृष्णानन्द को वकालत शुरू करने में शायद उससे भी कम समय था। मैं तो पहले से तैयार था पर शेर था। वह लक्ष्मी का वरण करने जा रहा था। पर गीदड़-सा दबा डरा और संकुचित था।

अब तो घंटों की देर थी लेकिन अब क्या ! एकाएक यह कैसा वज्रपात ! कैसा प्रलय !! पृषानन्द नहीं, मेरा दुश्मन नहीं, मेरा प्रतिद्वन्द्वी नहीं, जीवन में जागृति और स्फूर्ति फूँकनेवाला, मेरा सच्चा सहचर नहीं। हतबुद्ध हो गया, आश्चर्य हो गया ! वह अचानक चन्द घड़ों में नहीं रहा ! नहा-धोकर पूजा करने के लिए कुशासन पर बैठा था । गंगा-जल लेकर आचमन करते ही गिर पड़ा । सेकण्डों में हृदय की गति रुक गई—उसका हार्ट फेल हो गया ।

भी साल साथ-साथ पढ़कर जिसे कभी करीब से अच्छी तरह नहीं देखा था विधाता की विडंबना, आज उसे मैं अपने कन्धे पर ले जा रहा हूँ । मेरी तृष्णा, मेरी प्यार की हुई अनमोल चीज, दुखित, व्यथित, अचेत होकर धूल के मोल हो गई है !

पृषानन्द नहीं रहा । मेरी विलासिता-यात्रा भी रुक गई । मेरा अभ्युदय स्थिर हो गया । जोश और निरलस साहस के सार स्रोत अवरुद्ध हो गये ।

देखता हूँ मेरे दुश्मन और प्रतिस्पर्धी ने अपनी अप्रत्याशित उपस्थिति से मेरा बोझा कुछ हल्का करके मुझे बहुत कुछ दे दिया था और अब जाकर तो सभी कुछ ले गया है । इस जीवन में क्या मैं कुछ कर सकूँगा ?—कभी नहीं ।

बन्दी

चारों तरफ नीला जल नीले आकाश में मिल गया था। पर्वत भेड़िये की तरह मुँह उठाकर लहरें उठती और लय हो जाती थीं। वह क्षितिज के उस पार, अनन्त दूरी तक फैला हुआ महासागर था। उस अथाह जलराशि के बीच एक शून्य-सा टापू चट्टानों के सहारे खड़ा था। लहरों के उद्दाम प्रयत्न को विफल करने के लिये ही मानो दृढ़ता उसकी रग-रग में भरी थी।

वहीं तट से टकरानेवाली फेनिल लहरों का पैर से स्पर्श करता हुआ, उन्नत-ललाट एक युवक बैठा था। वह बन्दी था—निर्वासित था।

वायु का झोंका उसके लम्बे बालों को लहराकर चला गया। पानी का रेला आया और 'छप-से' उसके सारे शरीर में लगकर लौट गया। सहसा उसकी आँखें तन गईं। उसने पैर से महासागर को ठुकराकर कहा—इतना गर्व! जानता नहीं, तुझे मैंने विशाल साम्राज्य का कुछ सोचकर बनाना चाहा था। और अब!

उसकी आँखें आप ही आप झुक गईं। क्योंकि वह बन्दी था।

[दो]

उस निर्जन टापू में कितनी रातें आईं और गईं। चन्द्रमा

निकला, तारे उगे, अंधेरा गहरा हुआ, सूर्य की रोशनी फैली, लेकिन बन्दी के हृदय में वह उत्साह दिखाई न दिया। उसकी नीली आँखों में फिर कभी वह चमक नजर न आई। उसकी स्मृति के सामने सदा निराशा का परदा पड़ा प्रतीत होता था। उसकी हरएक हरकत में दीनता के भाव झलकते थे।

जब गगन में समुद्री पक्षी उड़ता, तो वह चुपचाप बैठकर सिर झुका लेता। जङ्गली बकरा उछलकर जब पहाड़ों की चोटी पर जाकर तिरछी नजर से उसकी ओर ताकता तो वह चुपचाप अपनी हीनता स्वीकार कर लेता। समुद्र गर्जन सुनकर उसका कलेजा काँप जाता था। उसके स्वप्नों का महल ढह चुका था। अतीत की हलचल एक धुँधली-सी याद रह गई थी। वर्तमान अंधेरा पड़ा था और भविष्य् इतना अनिश्चित और जटिल था कि उसके सुलझाने में मन लगता ही न था।

[तीन]

रात काली थी। समुद्र में तूफान था। लहरें आकाश को छूती थीं। प्रलय — अभी अभी दो मिनट में प्रलय होने वाला था।

बन्दी गहरी निद्रा में गुफा के द्वार पर सोया हुआ था। उसके नीचे जमीन हिलती थी ऊपर आसमान चक्कर काट रहा था।

उसने देखा—महासागर को चुनौती देकर वह कूद पड़ा। मछली देकर बेहिसाब तौल दी। अनन्त जल-राशि को क्षण-भर में चीरकर वह किनारे पर खड़ा हुआ। उसके सिर पर राजपताका लहराता था। किले उसके पैरों के पास पड़े थे। असंख्य सेना उसका बिगुल सुनने के लिये तैयार थी। उसका हृदय उछल रहा था। तलवार कमर में झूल रही थी। चारों तरफ ढोल बज रहा था। उनका जयनाद आकाश में गूँज रहा था।

उसने उस विपुल वाहिनी का अच्छी तरह निरीक्षण किया। एक बार झंडे को प्यार से देखा और कहा—साथियो! इस झंडे के नीचे एक विशाल साम्राज्य कायम होगा। दुनिया ने कभी जिसका स्वप्न नहीं देखा था, उतना बड़ा। ये बड़े बड़े महासागर तुम्हारे घर के तालाब होंगे। तुम इनकी लहरों पर शासन करोगे। तुम्हारी आँख के इशारे पर दुनियाँ चलेगी।

समस्त सभा ने झंडे के आगे सिर झुकाया और सम्राट् के जयकार से आकाश हिल उठा।

सेना मार्च करने को तय्यार खड़ी थी। किले की फसील पर तोप रक्खी थी। उसके छूटने के साथ ही कूच होनेवाला था। एकाएक भयंकर शब्द हुआ। धरती डगमगाकर आसमान पर खड़ा हो गया। पैरों की बल्लियें भग उठीं। सामने के दरख्त टूटकर भयंकर शब्द के साथ गिर पड़े। वह अपनी सभा को आखिरी हुक्म देने के लिये दौड़ा। पर चारों ओर सिर्फ समुद्र की ऊँची ऊँची लहरों के और कुछ

बन्दी]

न था।

वह दिल को मसोसकर बैठ गया। क्योंकि वह बन्दी था।

तारा

भाभी ने जब हँसते हुए मिठाई तलब की, तो मैं उनकी बात नहीं समझ सका, पर—'पास हो जाने दो तब चाहे जितनी मिठाई ले लेना'—कह कर हैंडबेग जमीन पर रख दिया और नौकर को बाहर से असबाब लाने का इशारा करके मैं ऊपर कोठे पर जाने लगा। मैंने सुना नहीं, भाभी ने फिर कुछ कहा—पर जब घूमकर देखा तो वे हँस रही थीं और तारा उन्हें रोक रही थी। उस समय तारा के लजीले नेत्रों के भाव को देखकर मुझे विश्वास हो गया कि मैं बात को नहीं समझ सका हूँ—पर मैं कोठे पर ही चला गया।

आई०सी० एस० परीक्षा में सम्मिलित होकर मैं लखनऊ से लौटा था। गत वर्ष एम० ए० फाइनल का इम्तहान दिया था, उसके तेरहवें दिन मेरा गौना हुआ था, तब से तारा केवल एक बार पन्द्रह दिनों के लिये अपने घर गई थी। नहीं तो उसे बराबर यहीं रहना पड़ा था। मैंने भी साल के कई महीने घर पर ही बिताये थे; लेकिन परीक्षा के एक महीने पहले मैं कुछ सोच समझ कर प्रयाग चला गया था। उस दिन मुझे पहली बार

मालूम पड़ा था कि इन महीनों में बस एक रहने पर पर भी अज्ञात रूप से मैं तारा के कितने समीप पहुँच गया हूँ और उससे अलग रहना अब मेरे जीवन की कितनी बड़ी अपूर्णता है।

लेकिन मैं चला आया, क्योंकि इम्तहान के लिए तैयार होना था। यद्यपि मुझे इसकी उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी कि मेरे भाई साहब को। उन्हीं के सिर तमाम गृहस्थी का बोझ था इसीलिये मेरे भविष्य और परिवार की आवश्यकताओं को वे ही अधिक समझते थे। उन्होंने मुझे घर छोड़ देने की आज्ञा दी थी। मैंने इच्छा न रहने पर भी, उनकी आज्ञा का पालन किया।

जब मैं घर से चलने लगा था, तारा किवाड़ का पकड़े चुपचाप खड़ी थी। मैंने भी उस समय उससे कुछ कहना उचित नहीं समझा पर द्वार के बाहर पैर रखने से पहले एक बार मेरी आँखें अनायास उस ओर चली गईं। जो कुछ देखा, कहा नहीं जा सकता। वह ममता का भाव! वे सजल नेत्र, उनका संदेश एक कथा थी जो अक्षरशः मेरे दिल में नक्श हो गई। एक सेकिण्ड में उन आँखों ने जो कुछ कह दिया उसी की मीमांसा गाड़ी में बैठे-बैठे मैंने करनी आरम्भ की और निश्चय कर लिया कि अपनी प्यारी तारा को बहुत जल्द अपने साथ रखने का इन्तजाम कर लूँगा। अब उसे इस तरह वियोग का दुःख न होने पायेगा, जहाँ कहीं जाऊँगा वह मेरे साथ जायेगी। वह जिन्दगी का प्यार करती है यही तो एक झगड़ा है। उसके लिये मैं मानव से झगड़ लूँगा। क्या मैं उसका चाचा और तारा उसकी चाची नहीं! क्या हमें अपनी भतीजी पर इतना भी अधिकार

नहीं । मुझे विश्वास है अब मैं मामी से कहूँगा कि वे अपने तीन लड़के लड़कियों को अपने पास रक्खें और बिहारी को तारा के साथ भेज दें तो वे मान लेंगी । बस फिर तो तारा प्रसन्न ही रहेगी । यही सोचते हुए मैं प्रयाग पहुँच गया । यहाँ भी इम्तिहान के दिन तक मैं तारा की आँखों की वे बड़ी-बड़ी बूँदें न भूल सका । मैं उसका ख्याल करके बेचैन हो रहा था । मैंने दो तीन पत्र भी लिख दिये, पर किसी का उत्तर नहीं मिला । इससे और भी चिन्ता थी । कभी-कभी मैं सोचता था कि अब की बार तारा सचमुच रूठ गई है । यह अनुमान इसलिए और भी दृढ़ होता जा रहा था कि मैं चलते समय जानबूझकर उससे नहीं बोला था । इम्तहान के दूसरे दिन मुझे तारा का लिफाफा मिला । उसे पढ़कर तसल्ली हुई और शर्म भी हुआ । मैं उसे केवल प्रेम की मूर्ति, सरलता का प्रतिरूप और एक अबोध बालिका ही समझता था, जो सम्भा के भार से हरदम दबी जा रही हो लेकिन उसकी व्यवहार कुशलता और भावी-जीवन की महत्वपूर्ण आकांक्षाओं का मुझे उसी दिन पता चला । यदि मैं पहले से जानता, तो मेरा पत्र और भी सरस हो जाता । उसमें लिखा था—भविष्य जीवन के सच्चे सुख के लिए मेरा मौन रहना ही अच्छा है । यद्यपि उमंगों को मैं दबाकर दबाए हुए हूँ और इन्हें दबाना ही होगा । इम्तहान देकर जब घर आओगे तब मैं अच्छी तरह बताऊँगी कि मैं मान नहीं करती । सच्चा प्रेम ही हमारे जीवन का पथ है ।

बस यही लाइनें बराबर पढ़ता हुआ मैं अलमस्त गया । मुझे ऐसी लगन लग गई जो जीवन की संजीवनी शक्ति-सी हो सकती है ।

उसी अमित उत्साह में मैंने एक एक मरमपत्र लिया था। वैसे मैं इम्तहान के बाद एक-दो हफ्ते मित्रों के साथ सदा ही बिताता था, लेकिन अब की मेरे जीवन की बदली हुई हालत ने तुरन्त ही घर चलने को मजबूर कर दिया। अब मैं वहाँ से चल दिया, रास्ते में कई बार सकोचवश तबियत हुई कि बीच में ही उतर पड़ूं। वहीं तो भाभी मेरा खूब ही मजाक बनाएँगी। बान्ध-बन्धु केदार आदि जब फब्तियाँ कसेंगे तो मैं क्या उत्तर दूंगा? इसके अलावा तारा बेचारी को भी कम बातें नहीं सुननी पड़ेंगी। मेरी व्यग्रता से उसे मुहल्ले भर की लड़कियाँ छका मारेंगी। पर यह सब कुछ सोचते हुये भी मैं चला आया, और घर में पैर रखते ही मालूम मैं जब वही उपक्रम किया तो मैं मन ही मन कटता हुआ, अपने कमरे में चला गया। कपड़े उतारकर बाहर भाई साहब के पास आकर उन्हें इम्तहान का हाल बताने लगा।

उसी दिन, नहीं उसी रात को जब दीपक की जलती हुई लौ पर गिरकर पतिंगे निस्वार्थ प्रेम की रागिनी गा रहे थे और तारा मेरे पास बैठी अविचलित भाव से उसको सुनने में तन्मय हो रही थी उसके जिज्ञासापूर्ण नेत्रों में उस रहस्य के लिए कई प्रश्न थे, उस बिह्वल उत्सर्ग के लिए अनन्त कौतूहल था और हृदयस्थ समवेदना के लिये उसके सुन्दर नेत्रों में दो बड़े-बड़े आंसू। जीवन की सबसे अमूल्य निधि ऐसे आंसुओं की बूंदें ही होती हैं जो स्वर्गीय अनुभूति को प्रकाशित कर रही हों। मैंने अचानक उसकी आंखों को ।

आंसुओं की बूंदें गालों पर बिखर गई और अनुराग रंजित

होंठ मुसक्यान की अपूर्व आभा से खिल उठे। मैंने उस पर अपने प्रेम की मुहर लगा दी। उस समय उसने मुझे रोकते हुए कहा—ठहरो भी, देखो तो बेचारा पतिंगा अभी-अभी जल मरा है और यह दूसरा भी बढ़ा आ रहा है।

मैंने कहा—जाने दो। वह प्रेम करता है।

वह पतिंगों का दीपक पर बारबार गिरना देखते हुए बोली—वह प्रेम करता है—अपना प्राण देकर—मैं भी तो तुम से प्रेम करती हूँ। पर मेरा प्रेम इसके प्रेम के सामने कितना क्षुद्र है। क्या मानवीय प्रेम में ऐसा आदर्श-उत्सर्ग सम्भव नहीं?—मैं क्यों जीवन के इस भार को अपरिसीम अभिलाषाओं के साथ वहन किये जा रही हूँ। गुलामी में मुझे और तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा?

मैंने कहा—अव्यक्त और अज्ञात प्रतीत होनेवाले मानवीय प्रेम के जो आदर्श दिखाई देते हैं, वे भी उपेक्षणीय नहीं।

वह कुछ और भी कहना चाहती थी पर मैं बीच ही में पूछ उठा—भाभी क्या कहती थीं तारा?

उसकी सूरत पर लज्जा की लालिमा स्पष्ट हो गई। और उसने सकुचाते हुए कहा—वे ही बातें—और तुमने तो व्यग्र कर दिया है।

यह जवाब तो मिल गया। मैंने कुछ-कुछ अनुमान किया। कोई ऐसी बात है जिसे वह अभी बताना नहीं चाहती।

दूसरे दिन तारा परोस रही थी, और मैं किशोरी के साथ खाना खा रहा था तब भाभी ने पुकार कहा—लाला जी, इस तरह काम नहीं

चलेगा । यह समझ रखना कि मैं माननेवाली नहीं हूँ । इस बगल इम्तहान की बगल और मेरुगी बावत लिये बिना मैं किसी तरह नहीं मान सकती ।

लेकिन भाभी की इन बातों से भी मुझे सन्देह ही रहा जब तक उन्होंने साफ-साफ नहीं कह दिया । जब मुझे निश्चय हो गया तो किसी तरह की विशेष इच्छा न रहते हुए भी मुझे अनिर्वचनीय आनन्द हुआ । अब तक मैं अपने आपको बच्चा ही समझ रहा था आज पहली बार पिता होने की कल्पना का विचार मुझे कितना मधुर, कितना अलौकिक और कितना मनोहर मालूम हुआ । मेरी नस-नस में, मेरे रोम रोम में उल्लास और आशा के अंकुर उदय होने लगे । कल्पनाओं के स्वर्ण जाल में मेरा हृदय इधर से उधर झूलने लगा । आनन्द को छककर उस दिन मुझे कुछ दिखाई ही नहीं पड़ा । एकान्त में जब तारा से मैंने हँसकर पूछा, तो वह केवल लजाकर रह गई । उस लज्जा में जो करुण भाव था, उसे मेरे नेत्र उस समय न देख सके । मैंने नहीं समझा कि प्यारी तारा सचमुच मेरे प्रेम का पतिंगा बनना चाहती है, उसने जिस आदर्श को पसन्द कर लिया है, उसे ही पाने की यह सब तैयारी है । मैंने एक क्षण के लिये भी अपनी प्रियतमा के अपूर्व उत्सर्ग की बात नहीं सोच पाई । रात दिन नये नये इरादे, नई नई स्कीमें तैयार कर रहा था कि इम्तहान में पास होकर, नियुक्ति होने पर बाहर जाऊँगा । तारा अपनी गोद का खिलौना लेकर मेरे साथ चलेगी अहा ! कैसी सुन्दर वह घड़ी होगी । उन दिनों के सभी प्रभात और सभी संध्याएँ अपनी निराली शोभा लेकर आयेंगे ।

एक दिन यह बच्चा आइ० सी० एस० होगा जो मैं नहीं कर सका उसे यह करेगा। उस दिन तारा कितनी सुखी होगी।

मेरे इम्तहान का नतीजा आ गया।

पहला नम्बर मेरा आया। इन दिनों तारा पीली पड़ गई थी। उसी दशा में उसने यह समाचार सुना, वह हँसी। इसके बाद उसे दो दिनों तक बुखार रहा। मैंने समझा बेहद खुशी की वजह से ही ऐसा हुआ है। वह अच्छी हो गई तो मैंने एक दिन उसे भी बता दिया कि अब शीघ्र ही उसे मेरे साथ बाहर चलना पड़ेगा। उसने लम्बी साँस खींचकर मौन धारण कर लिया। मैंने समझा उसकी स्वीकृति हो गई, पर शायद ऐसा नहीं था।

जिस दिन डिप्टी कलक्टरी का नियुक्ति पत्र मेरे पास पहुँचा, उसी दिन अकस्मात शिशु को छोड़कर मेरी प्रियतमा न जाने कहाँ चली गई? मैंने उसी के पास गिरकर अपना सिर पटक दिया। माँ और भावज ने बलपूर्वक मुझे उठा लिया। मैंने खड़े होकर देखा तो जान पड़ा तारा मुस्करा रही है उसके पास जलते हुए दीपक पर पतंगे गिर रहे हैं और वह मुझसे कह रही है गुलामी में मुझे और तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा?

इस बार मैंने उसका आशय समझा। नियुक्ति पत्र के अनन्त टुकड़े करके मैंने फेंक दिये और तारा के प्रेम-पथ पर, सच्चे आनन्द पथ पर चलने का प्रण कर लिया। मुझे विश्वास है मेरी प्रियतमा तारा को इससे संतोष होगा और वह मेरे अपराध को

क्षमा कर देगी। अन्त में हम दोनों का इस पार सन्ध्या, अनन्त मिलन अवश्य होगा।

निरुद्देश्य

छुट्टी का दिन था, और मजे की मस्ती बहार। मैं घर से निकला निरुद्देश्य। टहलकर जरा बाहर सड़क पर गया। फिर घूमकर गली में आया। एक मित्र को पुकारा। जरा रुका, बोला। वह बोले—"आओ बैठो कुछ काम की बातें हों।'

मैंने कहा—"काम के लिए हफ्ते के और दिन हैं। आज भी बहलाने दो, यार!'

"अच्छी बात है।'

चलो फुर्सत हुई। चाय चली, नाश्ते आये। मित्रों का एक दूसरा झोंका आया। मैं कटी पतंग की तरह उसी तरफ को उड़ गया। बड़ा मजा रहा। खूब गपशप हुई। दुपहरी को एक नींद सो जाना था। वह हसरत अब पूरी हुई।

तांगे के इक्केवालों की जगह आजकल साइकिलवालों ने ली है। जिधर देखो, हाथ में हैंडिल पकड़े हवा में उड़े जा रहे हैं। मैंने पुकारकर कहा—"अजी ओ⋯⋯।"

देखा, रुक गये—उत्तर आये । मुस्कराकर बगैर पूछे ही कहा—"चल यों ही होस्टल की तरफ ।"

मैंने जबान दाँत से काटकर पूछा—"मैं भी चल सकता हूँ ।"

"जरूर !"

चाहा चलूँ, पर रुक गया । एक साथ कई इच्छाएँ जाग गईं । वह हँसकर चल दिये, मैं रह गया । तय हुआ, घूमने की ठहरी । सब लोग चल पड़े । मेरे पैर में पुरानी चप्पलें, सिर की टोपी नदारद पर घर जाने की फुर्सत कहाँ, और इजाजत भी नहीं ।

साढ़े चार बज चुके थे । हलकी धूप हवा का आलिंगन करती हुई बुरी नहीं मालूम पड़ती थी । हरे हरे खेतों की बुगा फूली सरसों का मस्तक नाच । नीरव, निर्जीव प्रकृति में सजीव कविता, साकार सौंदर्य और अनंत संगीत मुग्धभाव से किसी अज्ञात अगोचर के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे थे ।

मटर की हरी-हरी छीमी चुगते हुये हम लोग चले । लहरों को छूकर आते हुये अनिल और आपस के विनोद से पथ-श्रम भी हलका हो गया ।

गाँवों का रस सूख गया है । आजकल वहां क्या है ? वही दरिद्रता का नर्तन, वही विषाद का करुणालापें । लेकिन नदी के जिस कछार में हम आ रहे थे, वहाँ प्रकृति का वैभव लुट रहा था । जी बुरा हो गया । मित्रों की चहचहाहट में मन मचलकर कहने लगा—एक कुटी बने । वहीं रहकर इस बहती हुई कविता को हृदय के पन्नों में बटोर लिया जाय ।

दूर चने के खेत से एक किसान के लड़के ने गाया—"उठु अलबेली तुहारि भाउ आ गया । उठु "। मालूम पड़ा, सचमुच ही अलबेली प्रकृति मस्त पड़ी इठला रही है । बच्चे का कोमल भोला कंठ उसे मधुर करीम की भार ठेल रहा है ।

[दो]

जहाँ कोई सड़क नहीं वहाँ नियम भी नहीं । अनियम चलो । पूरब पश्चिम, उत्तर-दक्षिण-शायद ही कोई दिशा छूटी हो । किसी से पूछना कुएँ या और कुछ बतलाना पाप । सभी चुपचाप अपनी-अपनी धुन में, मस्तानी चाल से, चले जा रहे थे ।

नगर की सीमा छूट गई । कछार की विस्तार-सीमा समाप्त हुई । हँसी की संलग्नता को ठेस लगी । लौटकर देखा—ओहो ! घर तो दूर छूट गया था ।

कोई हर्ज नहीं, सालू किनारों पर चढ़ने लगे । पैर में चप्पी भी न । उसका पुराना तस्मा उखड़ गया । बड़ी आफत हुई । मित्र कहलानेवाले शत्रुओं ने एक कहकहे से मेरी परेशानी का स्वागत किया । खैर आगे बढ़ा । दो कदम बाद ही एक भड़कटैये पर पैर पड़ गया । काँटे चुभ गये । मैं ठहर गया, फिर बैठकर उन्हें निकालने लगा । तबतक मित्र मंडली में आयुर्वेद का विचार उपस्थित हो गया । चार नहीं पाता, किन किन-रोगों के लिये भड़कटैया के पौधे, पत्ते और जड़, सब का उल्लेख होने लगा । काँटों से छुटकारा पाकर मैंने कुछ झुंझलाहट के साथ कहा—

मालूम पड़ता है, अब कल्पवृक्ष की जगह इसी माधवीलता ने ली है।

मुक्ताधारा की तरह स्वच्छ मुस्कराहट को बेसरों से बिखेरते हुये किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। क्षणभर समझ पड़ा, धन्वन्तरि की विद्या के जो कुछ पन्ने खो गये थे, वे सब इन्हीं लोगों ने बरामद कर लिये हैं। जब विषय ही छिड़ गया तो मदकरैया ही क्यों, नागफनी ऊंटकटारा, धतूर और अमरबेल सभी बारी-बारी से आने लगे। सभी की सेवन विधि की शास्त्र-सम्मत विवेचना मय प्रमाणादान के होने लगी। किसी ने मंजरी झाड़कर काँटे चुभाये, किसी ने फूल तोड़कर कड़वे दूध में हाथ चिपचिपा लिया। मेरी बारी आई। खूब हंसा, खूब हंसाया। एक-एक की अच्छी तरह खबर ली। जी खुश हो गया। सब लोग आगे बढ़ चले। रुके तो सिर्फ एक पनघट पर। गांव की बहुएं छपाछित हिरनियों की तरह घूंघट के भीतर से एक दूसरी का मुंह ताकने लगीं। पानी भरनेवाली ने पानी भरना रोक दिया। प्यास तो लगी थी शायद सभी को, पर किससे कहते। परदे की प्रथा का मन-ही-मन श्राद्ध करते हुये चल पड़े। गांव में प्रवेश किया।

भड़भूँजे की दुकान मिली। हरे-हरे चमाव भूँजे जा रहे थे। शहर की टोली का जी ललचाया। कुछ पैसों के चने भुनाये गये। भोलीभाली सलोनी युवती ने नमक-मिर्च बगैर पैसों के ही देकर उन्हें, सब दिलों को कृतज्ञता के रेशमी धागे में नत्थी कर लिया। अगर आगे जाने की आतुर उत्सुकता न होती, तो कुछ देर वहीं बैठकर चने चबाये जाते।

गांव के दूसरे सिरे पर जाकर एक त्यागी साधु की कुटी में विश्राम किया, जल पिया और की थोड़ी देर तक वेदांत-चर्चा। चने

बगीचे के उस ताल में, विशाल वट के नीचे पक्षियों के घोंसले की तरह, वह कुटिया थी। थोड़ी देर में समस्त विकार तिरोहित होकर अन्तःकरण स्वच्छ निर्मल हो गया।

[तीन]

दिन अपने उजले धुले हुए पंखों को समेट रहा था और संध्या धूमिल उत्तरीय को उतारकर ढँक रही थी। चलाचली का वक्त था। स्वच्छंद विहग अपने अपने नीड़ों में आश्रय लेने जा रहे थे। हम लोग भी चले।

बाहर द्वार से चरवाहे लौट पड़े थे। अपनी तो कह सकता हूँ, मेरा हृदय अपनी नवोढ़ा पत्नी की आकुलताभरी प्रतीक्षा का अनुभव कर बेचैन हो रहा था।

विनोदिनी गोष्ठी के सभी सदस्य अल्हड़ जवानी के रंग में रंगे थे, सिर्फ महाशय गोकुलचन्द उर्फ बीनतान ही एक ऐसे थे, जिन पर बुढ़ापे का उन्माद साया पड़ चुका था। वह हम लोगों के नेता थे, अगुआ थे—हर बात में हर काम में। क्योंकि उनका दिल अभी तक पूर्ण स्वस्थ और जवान बना हुआ था। वे आगे आगे अक्सर मार्च करते हुए चले। लोग मालगाड़ी के डब्बों की तरह उनका अनुसरण करने लगे।

एकाएक हल्ला हो गया। मिस्टर बीनतान अपने समवयस्क किसी सज्जन से उलझ पड़े। राम-जुहार हुई। कुशल-क्षेम पूछी। आगन्तुक ने कहा—वहीं जा रहा हूँ। गांव के पोस्ट-आफिस में क्लर्क हूँ मैं।

मिस्टर बीनतान ने गंभीरता से सिर हिलाया। मालूम हुआ, जैसे

मालूम पड़ता है, अब अल्हड़पन की जगह इसी मादकशीलता ने ली है।

फुलझड़ी की तरह स्वच्छ मुस्कराहट को बेदर्दी से बिखेरते हुये किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। बस भर समझ पड़ा, धन्वन्तरि की विद्या के जो कुछ पन्ने आ गये थे, वे सब इन्हीं लोगों ने बरामद कर लिये हैं। जब विषय ही छिड़ गया तो भटकटैया ही क्यों, नागफनी ऊँटकटारा, धतूर और भरभंडी सभी बारी-बारी से आने लगे। सभी की सेवन विधि की शास्त्र-सम्मत विवेचना मय अनुपान के होने लगी। किसी ने मकरी भरकर काँटे चुभाये, किसी ने फूल तोड़कर उसके दूध में हाथ चिपचिपा लिया। मेरी बारी आई। खूब हँसा, खूब बनाया। एक एक की अच्छी तरह खबर ली। जी खुश हो गया। सब लोग आगे बढ़ चले। रुके तो सिर्फ एक पनघट पर। गाँव की बहुएँ सशंकित हिरनियों की तरह घूँघट के भीतर से एक दूसरी का मुँह ताकने लगीं। पानी भरनेवाली ने पानी भरना रोक दिया। प्यास तो लगी थी शायद सभी को। पर किससे कहते। परदे की प्रथा का मन-ही-मन श्राद्ध करते हुये चल पड़े। गाँव में प्रवेश किया।

भड़भूँजे की दुकान मिली। हरे-हरे चने भूँजे जा रहे थे। बाहर की टोली का जी ललचाया। कुछ पैसों के चने भुनाये गये। भोलीभाली अबोली युवती ने नमक-मिर्च बगैर पैसों के ही देकर उन्हें, सब दिलों को कृतज्ञता के रेशमी धागे में बन्दी कर लिया। अगर आगे जाने की उत्कट उत्सुकता न होती, तो कुछ देर वहीं बैठकर चने चबाये जाते।

गाँव के दूसरे सिरे पर जाकर एक सत्संगी साधु की कुटी में विश्राम किया, जल पिया और भी थोड़ी देर तक वेदांत चर्चा। बनी

बगीचे के इस भाग में, विशाल वट के नीचे पक्षियों के घोंसलों की तरह, यह कुटियाँ थीं। जरासी देर में समस्त विभ्रम तिरोहित होकर वातावरण स्वच्छ निर्मल हो गया।

[तीन]

दिन अपने उजले धुले हुए पंखों को समेट रहा था और संध्या धूमिल उत्तरीय को उतारकर ढँक रही थी। चलाचली का वक्त था। स्वच्छंद विहग अपने-अपने नीड़ों में आराम लेने जा रहे थे। हम लोग भी चले।

बाहर द्वार से बराती लौट पड़े थे। अपनी तो कह सकता हूँ, मेरा हृदय अपनी मनोज्ञा पत्नी की आकुलतामयी प्रतीक्षा का अनुभव कर बेचैन हो रहा था।

बिरादरी मण्डली के सभी सदस्य प्रायः जवानी के रंग में रंगे थे, सिर्फ महाशय गोकुलचन्द उर्फ बीनलाल ही एक ऐसे थे, जिन पर बुढ़ापे का उज्ज्वल साया पड़ चुका था। वह हम लोगों के नेता थे, बुजुर्ग थे—हर बात में हर काम में। क्योंकि उनका दिल अभी तक पूर्ण स्वस्थ और जवान बना हुआ था। वे आगे आगे कदम मार्च करते हुए चले। लोग मालगाड़ी के डब्बों की तरह उनका अनुसरण करने लगे।

एकाएक हल्ला हो गया। मिस्टर बीनलाल अपने समवयस्क किसी सज्जन से उलझ पड़े। राम-जुहार हुई। कुशल-क्षेम पूछी। आगन्तुक ने कहा—चलो आ रहा हूँ। गाँव के पोस्ट-आफिस में सबकी है न?

मिस्टर बीनलाल ने गंभीरता से सिर हिलाया। मालूम हुआ, जैसे

मालूम पड़ता है, अब कमण्डल की जगह इसी भावशीलता ने ली है।

मुक्ताधारा की तरह स्वच्छ मुस्कराहट का बेदर्दी से बिखेरते हुये किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। क्षणभर समझ पड़ा, धन्वन्तरि की विद्या के जो कुछ पन्ने खो गये थे, वे सब इन्हीं लोगों ने बरामद कर लिये हैं। अब विषय ही छिड़ गया तो मटकटैया ही क्यों, नागफनी ऊंटकटारा, धतूर और मदार की सभी बारी-बारी से आने लगे। सभी की सेवन विधि की शास्त्र-सम्मत विवेचना मय भंगोपान के होने लगी। किसी ने मंजरी मसलकर कौड़ि घुमाये, किसी ने फूल तोड़कर उसके दूध में हाथ चिपचिपा लिया। मेरी बारी आई। खूब हंसा, खूब बनाया। एक-एक की अच्छी तरह खबर ली। जी खुश हो गया। सब लोग आगे बढ़ चले। रुके तो सिर्फ एक पनघट पर। गांव की बहुएं चमत्कृत हिरनियों की तरह घूंघट के भीतर से एक दूसरी का मुंह ताकने लगीं। पानी भरनेवालों ने पानी भरना रोक दिया। प्यास तो लगी थी शायद सभी को। पर किससे कहते। परदे की प्रथा का मन-ही-मन श्राद्ध करते हुये चल पड़े। गांव में प्रवेश किया।

मड़भूंजे की दुकान मिली। हरे-हरे अनाज भूने जा रहे थे। शहर की टोली का भी ललचाया। कुछ पैसों के चने भुनाये गये। भोलीभाली छबीली युवती ने नमक-मिर्च बगैर पैसों के ही देकर अपने, सब दिलों को कृतज्ञता के रेशमी धागे में नत्थी कर लिया। अगर आगे चलने की उत्कट उत्सुकता न होती, तो कुछ देर वहीं बैठकर चने चबाये जाते।

गांव के दूसरे सिरे पर जाकर एक त्यागी साधु की कुटी में विश्राम लिया, जल पिया और भी थोड़ी देर तक वेदांत-चर्चा। चले

बगीचे के उस पार में, विशाल वट के नीचे पक्षियों के घोंसले की तरह, यह कुटिया थी। जरा सी देर में समस्त विकार तिरोहित होकर अन्तःकरण स्वच्छ निर्मल हो गया।

[तीन]

दिन अपने उलझे हुए बालों को समेट रहा था और संध्या धूमिल उत्तरीय को उतारकर फेंक रही थी। चमगादड़ों का दल था। तत्पश्चात् विहग अपने अपने नीड़ों में आश्रय लेने जा रहे थे। हम लोग भी चले।

बाहर द्वार से चरवाहे लौट पड़े थे। अपनी तो कह सकता हूँ, मेरा हृदय अपनी मनोज्ञा पत्नी की आकुलतामयी प्रतीक्षा का अनुभव कर बेचैन हो रहा था।

विनोदप्रिय गोष्ठी के सभी सदस्य प्रायः जवानी के रंग में रंगे थे, सिर्फ महाराज यमुनाधर उर्फ बीनदास ही एक ऐसे थे, जिन पर बुढ़ापे का जबरदस्त छापा पड़ चुका था। वह हम लोगों के नेता थे, अगुवे थे—हर बात में, हर काम में। क्योंकि उनका दिल अभी तक पूर्ण स्वस्थ और जवान बना हुआ था। वे आगे आगे डबल मार्च करते हुए चले। सब मालगाड़ी के डब्बों की तरह उनका अनुसरण करने लगे।

एकाएक हाल्ट हो गया। मिस्टर बीनदास अपने समवयस्क किसी व्यक्ति से उलझ पड़े। राम-जुहार हुई। कुशल-क्षेम पूछी। आगन्तुक ने कहा—यहीं आ रहा हूँ। गांव के पोस्ट-आफिस में तलबी है न।

मिस्टर बीनदास ने गंभीरता से सिर हिलाया। मालूम हुआ, जैसे

वह सब कुछ जानते हों।

शायद साथियों की दशा का उन्हें अनुमान था इसलिए फिर कहा—अच्छा जाइए। बहुत दिनों से आपका चूरन चखने को नहीं मिला, किसी दिन मकान पर आइएगा।

"हाँ-हाँ, जरूर"—कहकर वे अपनी राह लगे और हम लोग घर की तरफ मुड़े। मैंने मि० जीनतान से पूछा—यह कौन थे जिनकी पेटी में चूरन था?

जीनतान—हाँ, इनका बड़ा मजेदार और बड़ा लम्बा किस्सा है। बेचारे आजकल चूरन बेचते हैं।

एक साथी ने कहा—हाँ, सूरत से मालूम पड़ता है, बड़े गरीब हैं।

[चार]

घर पहुँचने में देर थी। मेरे आग्रह से जीनतान महाशय ने किस्सा आरम्भ किया, कहा—बीस बाईस बरस पहले यह कहीं से भटक कर अपने यहाँ कलकत्ते में आया था। उसी समय एक और बाबू भी आया। दोनों थे परदेशी, दोनों ही थे अकेले। मुहब्बत हो गई। साथ ही-साथ रहने लगे—मित्र मित्र की तरह, भाई-भाई की तरह। पढ़ी भी साथ, रहना भी साथ ही, और गपशप भी साथ ही। मजा था—सिर्फ मजा।

कुछ दिन बाद दोनों अपनी-अपनी स्त्रियों को भी ले आये। एक बड़ा-सा मकान लिया गया। ऊपर-ऊपर के कमरे बाँट लिये गये नीचे-नीचे के।

जैसा पुरुषों में मेल था, उससे अधिक स्त्रियों में हो गया। एक

दूसरी के बिना पल-भर कल न होती। दोनों मित्र यह देख-देखकर मन ही-मन खुश होते, पुलकित और प्रसन्न होते थे। दोनों परिवारों को अपने अपने घर भूल गये थे।

कुछ दिनों बाद इन्होंने अपने मित्र और साथी को नवीन सृष्टि की सूचना पर बधाई दी। उन्होंने हँसकर कहा—आशा है, मुझे भी शीघ्र ही ऐसा अवसर मिलेगा। दोनों की श्रीमतियाँ सुन रही थीं। बड़ा तमाशा रहा। मन ही-मन खुश होकर भी दोनों ही अपने-अपने पूज्य स्वामियों से रूठ गईं।

इनके मित्र अपनी पत्नी को घर ले जा रहे थे। इनकी पत्नी की राय के मुताबिक इन्होंने रोक दिया कहा—अजी, यहीं रहने दो। घर क्या है, मेरी स्त्री सब कर लेगी।

समय हो चुका था। बच्चा दो-चार दिन में होने ही वाला था कि इनके तबादले का हुक्म आ गया। चौबीस घण्टे में दो सौ मील पहुँच कर चार्ज लेना था। बड़ी आफत आ पड़ी। मित्र घबरा गये। मित्र की स्त्री अपनी असहाय दशा का अनुमान करके रो पड़ी।

आखिर तय किया—कुछ दिन के लिए पत्नी को यहीं छोड़कर चले जायें। मित्र ने आश्चर्य इनके चेहरे की तरफ देखा, दोनों ही स्त्रियाँ स्तब्ध रह गईं। मित्र की स्त्री ने तो अनेक धन्यवाद दिये।

यह चल पड़े। कुछ मित्र स्टेशन तक साथ आकर इन्हें गाड़ी पर बिठा गये।

आठ दस दिन बाद इन्हें अपनी स्त्री की चिट्ठी मिली—बीबी का

वह सब कुछ जानते हों।

शायद साथियों की दशा का उन्हें अनुमान था, इसलिए फिर कहा—अच्छा जाइए। बहुत दिनों से आपका चूरन चखने को नहीं मिला, किसी दिन मकान पर आइएगा।

"हाँ-हाँ, जरूर —कहकर वे अपनी राह लगे और हम लोग घर की तरफ मुड़े। मैंने मि॰ ओलिवान से पूछा—यह कौन थे जिनकी बगल की पेटी में चूरन था।

ओलिवान—हाँ, इनका बड़ा मजेदार और बड़ा लम्बा किस्सा है। बेचारे आजकल चूरन बेचते हैं।

एक साथी ने कहा—हाँ, हालत से मालूम पड़ता है, बड़े गरीब हैं।

[चार]

घर पहुँचने में देर थी। मेरे आग्रह से ओलिवान महाशय ने किस्सा आरंभ किया, कहा—बीस-बाईस बरस पहले यह कहीं से बदल कर अपने यहाँ डाकखाने में आया था। उसी समय एक और बाबू भी आया। दोनों थे परदेशी, दोनों ही थे अकेले। मुहब्बत हो गई। साथ ही-साथ रहने लगे—मित्र मित्र की तरह, भाई भाई की तरह। छुट्टी भी साथ, रहना भी साथ ही, और सफराज भी साथ ही। मजा था—सिर्फ मजा।

कुछ दिन बाद दोनों अपनी-अपनी स्त्रियों को भी ले आये। एक बड़ा-सा मकान लिया गया। ऊपर-ऊपर के कमरे बाँट लिये गये नीचे-नीचे के।

जैसा पुरुषों में मेल था, उससे अधिक स्त्रियों में हो गया। एक

दूसरी के बिना क्षण-भर कल न होती। दोनों मित्र यह देख-देखकर मन ही-मन खुश होते, पुलकित और प्रसन्न होते थे। दोनों परिवारों का अपने अपने घर भूल गये थे।

कुछ दिनों बाद इन्होंने अपने मित्र और साथी को नवीन सृष्टि की रचना पर बधाई दी। उन्होंने हँसकर कहा—आशा है, मुझे भी शीघ्र ही ऐसा अवसर मिलेगा। दोनों की मनोभिलाषा पूर्ण रही थी। बड़ा तमाशा रहा। मन ही-मन खुश होकर भी दोनों ही अपने-अपने पुत्र स्वामियों से रूठ गईं।

इनके मित्र अपनी पत्नी को घर ले जा रहे थे। इनकी पत्नी की राय के मुताबिक इन्होंने रोक लिया कहा—अभी, यहीं रहने दो। घर क्या है, मेरी भी सब कर लेगी।

समय हो चुका था। बच्चा दो-चार दिन में होने ही वाला था कि इनके तबादले का हुक्म आ गया। चौबीस घन्टे में दो सौ मील पहुँच-कर चार्ज लेना था। बड़ी आफत आ पड़ी। मित्र घबरा गये। मित्र की स्त्री अपनी असहाय दशा का अनुमान करके रो पड़ीं।

आखिर तय किया—कुछ दिन के लिए पत्नी को यहीं छोड़कर चले जायँ। मित्र ने आश्चर्य इनके चेहरे की तरफ देखा, दोनों ही सिर्फ शान्त रह गये। मित्र की स्त्री ने तो अनेक धन्यवाद दिये।

यह चल पड़े। कुशल मित्र स्टेशन तक साथ आकर इन्हें गाड़ी पर बिठा गये।

आठ दस दिन बाद इन्हें अपनी स्त्री की चिट्ठी मिली—बीबी का

यह सब कुछ जानते हो।

शायद साथियों की दशा का उन्हें अनुमान था इसलिए फिर कहा—अच्छा जाइए। बहुत दिनों से आपका चूरन चखने को नहीं मिला किसी दिन मकान पर आइएगा।

"हां-हां, जरूर—कहकर वे अपनी राह लगे और हम लोग घर की तरफ मुड़े। मैंने मि० दीनदयाल से पूछा—यह कौन थे जिनकी पेटी में चूरन था?

दीनदयाल—हां, इनका बड़ा मजेदार और बड़ा लम्बा किस्सा है। बेचारे आजकल चूरन बेचते हैं।

एक साथी ने कहा—हां, हालत से मालूम पड़ता है, बड़े गरीब हैं।

[चार]

घर पहुंचने में देर थी। मेरे आग्रह से दीनदयाल महाशय ने किस्सा आरंभ किया, कहा—बीस-बाईस बरस पहले यह कहीं से बदल कर अपने यहां डाकखाने में आया था। उसी समय एक और बाबू भी आया। दोनों थे परदेशी, दोनों ही थे अकेले। मुहब्बत जुड़ गई। साथ ही-साथ रहने लगे—मित्र मित्र की तरह, भाई भाई की तरह। रहते भी साथ, खाना भी साथ ही, और गपशप भी साथ ही। मजा था—सिर्फ मजा।

कुछ दिन बाद दोनों अपनी-अपनी स्त्रियों को भी ले आये। एक बड़ा-सा मकान लिया गया। ऊपर-ऊपर के कमरे बांट लिये गये नीचे-नीचे के।

जैसा पुरुषों में मेल था, उससे अधिक स्त्रियों में हो गया। एक

दूसरी के बिना पल भर चैन न लेती। दोनों मित्र यह देख-देखकर मन ही-मन खुश होते, पुलकित और प्रसन्न रहते थे। दोनों परिवारों का अपने अपने घर भूल गये थे।

कुछ दिनों बाद इन्होंने अपने मित्र और साथी को नवीन स्थिति की सूचना पर बधाई दी। उन्होंने हँसकर कहा—आशा है, मुझे भी शीघ्र ही ऐसा अवसर मिलेगा। दोनों की श्रीमतियाँ सुन रही थीं। बड़ा ठहाका रहा। मन ही-मन खुश होकर भी दोनों ही अपने-अपने पूज्य स्वामियों से रूठ गईं।

इनके मित्र अपनी पत्नी को घर ले जा रहे थे। इनकी पत्नी की राय के मुताबिक इन्होंने रोक लिया, कहा—अभी, यहीं रहने दो। घर क्या है, मेरी भी सब कर लेगी।

समय हो चुका था। अथवा दो-चार दिन में होने ही वाला था कि इनके तबादले का हुक्म आ गया। चौबीस घण्टे में दो सौ मील पहुँचकर चार्ज लेना था। बड़ी आफत आ पड़ी। मित्र घबरा गये। मित्र की स्त्री अपनी असहाय दशा का अनुमान करके रो पड़ी।

आखिर तय किया—कुछ दिन के लिए पत्नी को यहीं छोड़कर चले जायें। मित्र ने साश्चर्य इनके चेहरे की तरफ देखा, दोनों ही स्त्रियाँ स्तब्ध रह गईं। मित्र की स्त्री ने तो अनेक धन्यवाद दिये।

वह चल पड़े। स्वयं मित्र स्टेशन तक साथ आकर इन्हें गाड़ी पर बिठा गये।

आठ दस दिन बाद इन्हें अपनी स्त्री की चिट्ठी मिली—बीबी का

हाल बहुत खराब हो रहा है। बच्चा नहीं हो रहा है। मनोहर बाबू सोचते हैं, आपरेशन हो जाय। कहीं बीबी को कुछ हो न जाय। उनकी बुरी दशा है।

उसी दिन थोड़ी देर बाद मिथबर मनोहर बाबू का तार मिला—स्त्री का स्वर्गवास हो गया। आपरेशन का कोई फल नहीं हुआ।

तीसरे दिन फिर स्त्री की चिट्ठी मिली। उसने लिखा था—तार मिल चुका होगा। बीबी की मृत्यु के कारण मेरा तो दिल टूट गया है। मनोहर बाबू का तो हाल बेहाल है। पिछले तीन दिनों से वे बेहोश पड़े हैं। आज कुछ-कुछ बुखार भी है। ईश्वर! क्या होना है!

वह बेचारे बड़ी आफत में पड़े। ऐसी दशा में स्त्री को कैसे कैसे पहुँचा आयें! स्वयं जाकर खर्च करने की सामर्थ्य नहीं। पत्र का उत्तर दे दिया। शीघ्र ही छुट्टी लेकर पहुँचने को लिख दिया।

आठ दिन बाद दरख्वास्त दी। छुट्टी मन्जूर हुई लेकिन बड़े दिन की छुट्टियों के बाद। बाद कितने ही दिनों को टल गई। पाँच या सात जनवरी को रेल में सवार होकर वहाँ पहुँच गये। इक्का किया, घर पर जा पहुँचे। पर घर में तो बड़ा-सा ताला पड़ा था। पड़ोसियों से पूछते डर-सा लगा। बस, डाकखाने की तरफ भागे।

डाकखाने का भी कायाकल्प हो चुका था। सब नये-नये बाबू थे। पता किया, उत्तर मिला—बाबू मनोहरलाल का दरभंगा हो गया है। दरभंगा भी नजदीक नहीं तीन सौ मील दूर। कानों पर विश्वास नहीं हुआ।

आप पूरब से मिल पश्चिम गये। और भी का कुछ पता नहीं, जिससे पूछें। आकाश घूम गया, पृथ्वी हिलने लगी, मस्तिष्क चकरा गया, जी सनसना आया। माथे को दबाकर बाहर बेंच पर ही बैठ गये। थोड़ी देर में एक पुराने पोस्टमैन ने आकर पहचाना। बंदगी करके पूछा—बाबूजी, आप कहाँ?

"यहीं आया था। बाबू मनोहरलाल ।"

"जी हाँ, जब से आप गये, उन बेचारों पर बड़ी मुसीबतें आईं। सुना ही होगा उनकी भी ।"

"हाँ, सब सुना है। तभी तो यहाँ आया था।"

"उन्हें भी आप ही की तरह चौबीस घन्टे में चार्ज देने का हुक्म मिला था। बेचारे रातोंरात भागे।"

मित्र की विवशता का ख्याल किया अपनी अव्यवस्थित प्रकृति को धिक्कारा। मन में कहा—यह खुद ही लेकर पहुँचेंगे। उन्हें खुद ही क्या कम फिक्र होगी और कहीं जा न पहुँचे हों। आगे जाने की जरूरत नहीं समझी। यहीं से घर लौट आये। दो-चार, आठ-पन्द्रह दिन और गये; न कुछ खबर, न कोई पत्र। हृदय में बेचैनी बढ़ने लगी। एक दो-तीन न-चाले जितने पत्र लिख मारे पर कुछ फल नहीं। आखिर छुट्टी लेकर आप ही चल पड़े।

छत्तीस घन्टे रेल में बिताकर यथास्थान पहुँचे। पोस्टआफिस में मित्र मिले। मुँह नीचे छिपा लिया। हँसी-खुशी का जिक्र नहीं। यह भी बैठे रहे। एक-दो बार उनकी स्त्री की चर्चा चलाई, वह भी आगे न बढ़

सकी । शाम को मित्र घर चलने लगे, पूछा—चलोगे न ?

यह बगैर उत्तर दिये ही चल पड़े । मित्र ने अच्छा सा मकान किराये पर ले रक्खा था । पहुँचकर कुण्डी खटखटाई । मुश्किल से छम छम की एक परिचित ध्वनि भीतर दरवाजे तक आकर रुक गई । किवाड़ खुल गये, पर कोई नजर न आया । चुपचाप कुण्डी खोलकर एक हाथ भर के अन्दर छिप गई । पूरी तरह न देखकर भी इन्होंने पहचान लिया ।

बाहर बैठक में मेहमान को ठहराकर मित्र अन्दर गये । दस पन्द्रह, बीस-पच्चीस मिनट की जगह एक घण्टे से अधिक हो गया, लेकिन कोई न आया ।

कमरा बिलकुल अन्धकारपूर्ण हो गया, पर कोई खबर लेनेवाला नहीं । किसी तरह न रहा गया, तो इन्होंने धीरे से अन्दर झाँका । वहाँ भी कोई नहीं । साहस करके अन्दर प्रवेश किया । दालान को पारकर आँगन में, आँगन से दूसरी दालान में, फिर उसी तरह चुपके से जीने में चढ़ गये । ऊपर खुली छत पर पास-पास तीन कमरे थे । एक कमरे से रोशनी निकल कर छत पर फैल रही थी । दूसरा कमरा अँधेरा पड़ा था । उसी में घुस गये । किवाड़ की दराज में आँख लगाकर देखा—बढ़िया गुलाबी रेशमी साड़ी पहने इनकी पत्नी मित्र की गोद में बैठी थी । शायद आँसू बहा रही थी । मनोहरलाल मखमली हाथों उसके आँसू पोंछ रहा था ।

सोच सकते होंगे, उस समय की इनकी दशा । फिर भी बहादुर खड़ा ही रहा । मित्र ने स्त्री का बार-बार प्यार करके कहा—तुम डरती क्यों हो ? मैं आकर उन्हें चिट्ठी लिखे देता हूँ । समझदार होंगे तो अभी चले

जाएंगे, कहीं धर्मशाला में जाकर डेरा डालेंगे। गड़बड़ करेंगे, तो दो धक्के देकर निकाल दूंगा।

क्रोध के कारण इनका शरीर कांपने लगा। इधर उधर कमरे में तलाश किया कुछ मिला नहीं। जी में आया, लाठी हाथ ही पहुँचकर दोनों के सिर तड़ाकर फाड़ डालें, मारें और मर जायें। लेकिन फिर कुछ सोचकर सम्भल गये। चुपचाप कांपते हुए बाहर निकल आये। पीछे से होकर बैठक में पहुंच गये। सब असबाब वहीं छोड़कर सिर्फ एक लोटा लेकर निकल पड़े।

कई दिन बाद मनोहर बाबू ने एक पत्र लाकर अपनी मां को दिया। आशीर्वाद बांचकर उसका जी भारी हो गया।

[पांच]

शीलदास महाराज ने कहा—अब जाइए अपने घर, आगे किसी और दिन सुनाएंगे। पर किसी ने न माना, ऐसी मजेदार कहानी सुनने के लिए सभी आतुर हो रहे थे। एक जगह उन्हें पकड़कर बिठा लिया गया।

शीलदास महाराज ने फिर से कहना शुरू किया—जो घर से एक लोटा लेकर निकलता है वह सीधा साधुओं में आ मिलता है। हिंदुस्तान में यह प्रथा बहुत पुरानी है। इन्होंने भी असमय में सन्यास धारण कर लिया। बस्तियों में आना छोड़ दिया, मनुष्यों से मिलना छोड़ दिया। एकांत वनों में, निर्जन कछारों में रहकर आत्मा के लिए शांति की खोज करने लगे। बरसें तपश्चर्या में बीत गईं। दूर बस्तियों में इनकी शोहरत हो गई।

गृहस्थ स्त्री-पुरुष इनको पहुँचा हुआ महात्मा समझने लगे। इनके मुँह से आशीर्वाद के दो शब्द सुनने के लिए वे अपना सर्वस्व झोंकने को तैयार थे। लेकिन इनके मन में शांति न थी, आत्मा अन्तर की अग्नि-ज्वाला से भस्मसात् हुई जा रही थी।

अन्त में यही सोचकर यह व्यथित हो उठे कि किस अदृश्य शक्ति ने उस समय मेरे हाथों को जकड़ दिया था मेरी बुद्धि को कुण्ठित कर दिया था! मुझे चैन हो भी तो कैसे! वे दोनों आनन्द उड़ाते रहें और मैं अकर्मण्य बनकर आत्मानन्द में लीन होने की चेष्टा करूँ! नहीं, उनके आनन्द का आमूल उच्छेद किये बगैर मुझे शांति कहाँ!

विन्ध्याचल पर्वत का एकान्त वास छोड़कर एक दिन महात्माजी फिर [illegible] की तरफ चल पड़े। [illegible] मुख-मण्डल पर यही राग-द्वेष था और थी वही ईर्ष्या लिप्सा।

बाबू मनोहरलाल फिर पुराने दफ्तर में पहुँच गये थे पुराना ही मकान किराये पर ले रक्खा था। इन कई वर्षों में उनकी अच्छी तरक्की हो गई थी। एक लड़का और दो लड़कियाँ तीन संतानें थीं। गृहस्थी के सभी सुख उन्हें प्राप्त थे।

जब इन्होंने आकर यहीं बस्ती में अपनी धूनी रमाई, तो उपर्युक्त बातें शीघ्र ही मालूम हो गईं।

चार छः दिन में महात्मा के अलौकिक वैराग्य की चारों तरफ चर्चा होने लगी। महात्माजी किसी की पाई छूते न थे। हाँ, भक्ति भाव से पहुँच जाता, दस-दो रुपये समर्पण करता, उसे आशीर्वाद दे देते। उनकी बहुत

सी बातें तो अपवाद स्वरूप देखी जाती।

एक दिन संध्या के झुरपुटे में लड़के को गोद में लिए एक स्त्री दो लड़कियों के साथ आई। महात्माजी प्राणायाम कर रहे थे। स्त्री आकर चुपचाप बैठ गई। चंचल बालक लड़की से भिड़ कर रो पड़ा। महात्माजी की समाधि भंग हो गई। बड़ी देर तक एकटक लड़के लड़कियों की बालक्रीड़ा देखते रहे।

महात्माजी की समाधि खुलते देखकर स्त्री ने झुककर चरणों में सिर नवाया और कुंठित आर्द्र कंठ से कहा—महाराज मैं बड़ी पापिन हूँ फिर भी इस जीवन में मैंने बड़े आनन्द उठाये हैं। सब इच्छाएं तो पूर्ण हो चुकीं, केवल एक शेष है। वह पूर्ण होगी कि नहीं, यही आपसे पूछने आई हूँ।

महात्मा ने सिर हिला दिया। वह स्त्री को अभी तक पहचान न सके थे। स्त्री ने उसी तरह उज्ज्वल नेत्र अतीत जीवन की सारी कथा सुनाकर पूछा—भगवन्, मेरे स्वामी उसी समय, उसी अंधेरी रात में चले गये। पाप के आवरण ने मुझे इतना ढक रखा था कि मैं कुछ न कर सकी। तीसरे दिन उनका पत्र आया। उसमें उन्होंने मेरे मलीन पाप-सम्बन्ध को फलने-फूलने का आशीर्वाद दिया था। उसी के फलस्वरूप आज मेरी गोद भरी-पूरी है। भगवन् मेरी एक ही अभिलाषा शेष है कि एक दिन मेरे स्वामी आकर अपने आशीर्वाद के फल को देख जाएं। मुझ पापिनी के मर्माहत हृदय को अपने शीतल दर्शन से शांत कर जायें। भगवन्! क्या वे आवेंगे!

महात्मा की आंखों से थोड़े-से आंसू लंबी बिखरी हुई जटाओं में गिर पड़े। उन्होंने एक बार फिर तीनों लड़के-लड़कियों पर गहरी नजर डालकर भर्राई हुई आवाज में उत्तर दिया—हां, वह अवश्य आवेंगे। रोओ नहीं, भाग्यवती।

स्त्री ने आकुल होकर उत्कंठा से पूछा—कब ?

"बहुत शीघ्र"

"आखिर, कब तक ? मैं रास्ता देखती-देखती बहुत थक गई हूं।"

"विश्वास रक्खो, शायद कल ही आ जाय।'—महात्मा ने भक्तिभरपूर्ण स्वर में कहा।

स्त्री बड़ी श्रद्धा के साथ महात्मा के चरणों में मत्था टेककर अन्धकार में एक ओर चली गई। महात्माजी ने दीपक बुझा दिया। धूनी पर राख डाल दी और वट के नीचे आह भरकर लेट रहे। सारी रात करवटें बदलकर काटी। आंखों से कितना पानी निकल गया, हृदय का कितना अमृत सूख गया। बार बार रह-रहकर एक-एक बात की याद आती थी। सोचते थे हाय वह अतीत! आह भरते थे और शून्य में कुछ खोजते थे। फूल-से कोमल उन बालकों की तस्वीरें आंखों के सामने नाचती थीं।

प्रातःकाल महात्माजी ने नाई को बुलाकर जटाएं मुड़वा दीं। धूनी का सामान उठाकर फेंक दिया और पिछले कर्मकांड को अंतिम नमस्कार करके एक सीधे-सादे नागरिक की तरह उठ खड़े हुए। घरघर चलते

के जरा-जूटधारी महात्मा की मृत्यु हो गई, और उनकी जगह आविर्भूत हुए नवरत्न मंझ पुरुष। पूरे ग्यारह बरस बाद एक बार फिर बाबू मनोहरलाल के दरवाजे की सांकल पीटकर गम्भीर भाव से खड़े हो गये। बड़ी लड़की ने निकलकर कहा—बाबू दफ्तर गये हैं, आप कहां से आये हैं?

इन्होंने कहा—तुम्हारी मां कहां हैं? जाओ उन्हें बुला लाओ।

लड़की मां को बुला लाई। आते ही स्त्री ने पहचान लिया। वह किवाड़ पकड़कर खड़ी रह गई। उसकी आंखों से आंसू की धारा झरझर गिरने लगी। संकोच और लज्जा से वह आंख न मिला सकी।

इन्होंने कहा—मुझे पहचाना सरला?

सरला ने सिर झुकाकर कहा—बस, क्षमा कीजिए। मैंने बड़ा पाप किया है।

इन्होंने कहा—खैर, अब उसका जिक्र करने की जरूरत नहीं। प्रारब्ध बड़ा प्रबल होता है। भूल जाओ उस बात को, अब मैं तुम्हारे घर मेहमान होकर आया हूं। बोलो कुछ खातिर करोगी।

सरला के मुंह से एक भी शब्द न निकला। उसका कलेजा शायद गले में आकर अटक गया था।

शाम हुई। मनोहर बाबू आये। रास्ते में से अनायास प्रकट हुये स्प्रिंग की तरह मित्र को घर पर कब्जा जमाये देखकर उनका कलेजा धर्रा गया। कुछ कहा नहीं। खाना खाया, चुपचाप लेट रहे। रात को दस बजे मेहमान स्वयं आकर उपस्थित हुआ, बोला—मित्र, जो गया सो हो गया। ग्लानि से आत्मा को गिराने की जरूरत नहीं। बस आनन्द से रहो।

मेरा तो वही आशीर्वाद तब था और अब भी है। हां एक बात विशेष है अगर इजाज़त हो, तो मैं भी दरवाज़े की कोठरी में पड़ा रहूं। इन लड़के लड़कियों का मोह मेरे पैरों में बेड़ियां डाल रहा है।

मनोहर बाबू को अनिच्छा होते हुए भी सम्मति देनी पड़ी। मेहमान का डेरा उसी समय से बाहर कोठरी में पड़ा है। वहीं वे अब भी रहते हैं। दिन भर चूरन बेचकर कुछ पैसे पा जाते हैं और लड़के-लड़कियों में बांट देते हैं। सरला के बच्चे इनसे विशेष हिले हैं। बड़ी लड़की का ब्याह हो गया है। इन्होंने ही कन्यादान किया था। कभी-कभी एक-दो दिन के लिए यह बड़ी लड़की को देखने चले जाते हैं। शाम भी वहीं गये हैं। जब तक यह लौट न आयेंगे, छोटा लड़का और लड़की सरला की जान खा डालेंगे। उन लड़के-लड़कियों को अपना ही समझने के लिए भगवान ने इन्हें सुबुद्धि दे दी है लेकिन मनोहर बाबू की शंका शायद अभी तक कम नहीं हुई है।

हत्यारा

मनुष्य की सबसे सुन्दर रचना है उसके भगवान्। उन्हें बनाकर फिर वह उन्हीं से कर्तव्य की प्रेरणा पाता है। दीनानाथ की सबसे सुन्दर सृष्टि थी मुक्ति भावना। क्योंकि उसीमें उसे हत्या की प्रेरणा हुई। जिस दिन उसने सोचा—संसार एक बंधन है, एक कारागार है, यहाँ सभी सम्प मुग्ध रहे हैं, उस दिन उसकी वैज्ञानिक आत्मा पंछी की तरह छटपटा उठी।

जिस कारण से दो हजार साल पहले महात्मा ईसा सलीब पर चढ़ गये थे, जिस विचार से राजकुमार सिद्धार्थ ने कपिलवस्तु के राजमहल को छोड़कर रास्ते की खाक छानना जीवन का लक्ष्य स्थिर किया था, ठीक उसी कारण से दीनानाथ ने इस शताब्दी में अपना नया प्रयोग आरम्भ किया। एक ही जगह के लिए अलग अलग रास्तों से चलना बुद्धिमानों का स्वभाव है। ईसा अपने लिये नहीं संसार के लिये मरे थे; बुद्ध ने कैवल्य का सुन्दर प्रकाश पीड़ित विश्व के लिये ही किया था। दीनानाथ ने भी दीन दुखियों को मुक्त करना अपना परम कर्तव्य मान लिया।

पहले पहल उसे दया आई एक मक्खी पर, जो पंखड़ी पर बैठने

के लिये भिनभिना रही थी। दीनानाथ ने अपनी छोटी शिखा में तीन बार गांठ देकर सोचा—शायद वह दहाड़ मारकर रो रही है या अपने कुटुम्ब बीनम से बेचार है। ओफ! छोह!—परोपकार तेरी शक्ति क्षीण हो गई! तू मुझे क्या कम नहीं दे सकता कि मैं इस दुःखग्रस्त आत्मा को सांत्वना दे सकूं। ऐ मायामय अन्धकार! तू ने एक प्रकाश की किरण तक मेरे पास नहीं रहने दी। मारा! अपमान!

दीनानाथ चौंक पड़ा। एक मकड़ी ने मक्खी को दबोच लिया। थोड़ी-सी भिनभिनाहट, थोड़ी-सी फड़फड़ाहट। फिर सब शांत, मौन, नीरव।

अन्धकार का हृदय चीरकर प्रकाश आंखों में भर गया। अब समस्या ही कुछ और है। पीलपी चढ़ी है। महीनों का रास्ता क्षणों में तय होता है। बुद्ध को छः बरस से ज्यादा लगा था और दीनानाथ को शायद कुछ मिनट से भी कम। उन्हें एकांत वन में साक्षात् हुआ था, इन्हें अपने कमानखाने की छप्पड़ी के अन्दर।

दीनानाथ ने मस्त शरीर का मुक्त करके मकड़ी को शाबाशी दी—वाह, गुरु!

[दो]

उस दिन से क्यों, उसी क्षण से दीनानाथ मुक्ति का सीधा रास्ता पा गया। वर्ष भर की साधना में उसे प्रकाश की जो ज्योति मिली, वह उसकी समझ से अपूर्व थी। वह संयमपूर्वक पीड़ित विश्व को उस ओर ठेलकर कर्म-संस्थापकों का कठिन कार्य करने लगा।

उसे स्पष्ट रूप से यह प्रतिभासित हो गया कि प्राणिमात्र में सुख और शान्ति की चिरंतन अनुभूति का अभाव है। सभी व्यक्तियों में, सभी वर्गों में उस अभाव की विशेष मात्रा से बेकली बढ़ रही है। कहीं भी संतुष्टि नजर नहीं आती। कष्ट, दुश्चिन्ता और शोक से जीव मात्र व्याकुल हो रहे हैं।

सांसारिक तृष्णा के कारण जीवन में जो श्रम उत्पन्न होता है, उससे किसी का भी निस्तार नहीं। वह श्रम जितना असह्य और अनिश्चित है, उतना ही वह अनिवार्य-सा हर-एक के पीछे लगा है जो जितने वेग से भागकर उससे प्राण छुड़ाना चाहता है, वह उतनी ही तत्परता से उसके गले का हार बनकर उसके साथ लगा रहता है।

दीनानाथ को ताज्जुब तो इस बात पर होता था कि अनेक व्यर्थ के आविष्कारों में मनुष्य ने क्यों अपने जीवन का दुरुपयोग किया। जो चिंता सबसे जरूरी थी, वही क्यों नहीं स्वाभाविक रीति से किसी के मस्तिष्क में उत्पन्न हुई। जिन लोगों ने जीवन-मरण के झोंकों को परदे से बाहर लाने का यत्न किया, वे क्यों नहीं कृतकार्य हुए। इतना सीधा-सा रास्ता उन्हें क्यों नहीं सूझा। क्या मृत्यु ही जीवन का परमार्थ नहीं है। ओह! उसकी गोद कैसी विश्रान्तिपूर्ण है। अनन्त सुख और चिरंतन शान्ति में वही तो जीवन की समस्त भ्रान्ति को विलीन कर देती है। उसके द्वार के अन्दर पैर रखते ही अभावों का अभाव हो जाता है।

उसी की उज्ज्वल आलोक-पूर्ण मुखच्छवि को लोगों ने अंधकार की कालिमा समझने की भूल की है। मनुष्य की भ्रमपूर्ण बुद्धि के नए-पुराने

संग्रहकों को देखकर कहना पड़ता है कि अगर ऐसी निरर्थक चीज कहीं बाजार में बिकती होती, तो कोई उसे ताँबे के सिक्के के मोल भी नहीं खरीदता। लेकिन विधाता की परम कृपा का फल मानकर आज भी उसका आदर वैसा ही गौरवास्पद बना है। और अब जब कि दीनानाथ को उसकी जड़ का ठिकाना मालूम हो गया है, तो उसकी महत्ता और भी अक्षुण्ण हो गई है।

वह मृत्यु को जीवनरूपी दिन की विश्रान्ति-पूर्ण रात्रि मानकर दीनानाथ मन ही-मन अपनी सफलता का अनुभव करने लगा। लेकिन यह उसकी विशाल-हृदयता है कि उसने खुद ही उस परमतत्त्व का आस्वादन करने का काम नहीं किया; बल्कि निर्मुक्त नील आकाश की तरह, समस्त संसार के लिये उसका द्वार खोल दिया। यही क्यों, अपने ही साधनाभिभूत हाथों से उसने इस परम पावन अनुष्ठान का आरम्भ किया।

[तीन]

जीवन-रक्षा के लिये वैद्य-डाक्टरों की तत्परता प्रशंसनीय है। उनकी दिनचर्या का विशेष भाग अगण्य असंख्य जीवात्माओं के बचाव में ही व्यय होता है। दीनानाथ की लगन उनसे भी कहीं बढ़-चढ़कर थी। उसे तो दिन-रात सोते-जागते यही चिंता रहती थी कि किस तरह सबको सांसारिक क्लेश से छुटकारा दिला दिया जाय। शायद वह एक दिन में उतने जीवों को परलोक अवश्य ही भेज देता था, जितने कई डाक्टर मिलकर बचा न सकते होंगे।

दीनानाथ के एक मित्र के शब्दों में अगर उसकी फुर्ती का वर्णन करने लगें, तो कहेंगे कि उसने मिथ्या तक का हरा दिया था। बूढ़े शक्तिहीन अनुशासन बाबा जब तक एक की सृष्टि करते थे, तब तक वह चार का समास कर देता था। चलते फिरते, उठते बैठते खाते पीते और सोते जागते दीनानाथ अपना काम भूलता नहीं था। जीव कहीं नजर पड़ जाता, तुरन्त उस को परमात्म में मिला देता। अगर सरकारी कानून बाधक न होता और संसार की मूर्खता इतनी तुच्छ नहीं होती कि वह उसके कार्य को उद्धारक का काम समझती, तो अवश्य ही अब तक मानव जाति का भी बहुत कुछ उपसंहार हो गया होता। लेकिन दुर्भाग्य क्योंकि मनुष्य के बराबर कोई मूर्ख नहीं। अनन्त कष्ट मानकर भी रात-दिन मारकीय व्यवस्थाओं में छटपटाना उसे पसन्द है, लेकिन बंधन से छुटकारा पाने का चिंता नहीं। मृत्यु से उसे डर लगता है, परम शान्तिदायिनी, मोक्ष की सहचरी से वह भयभीत रहता है। अनेक तरह के अस्वाभाविक साधनों से वह अपने जीवनकाल को दीर्घतर करने ही में लगा रहता है। बस एक मानव जाति पर ही अपना प्रयोग करने में इच्छा रखते हुये भी दीनानाथ समर्थ न हो सका।

मक्खी-मच्छर कुत्ते-बिल्ली तथा और सभी जानवरों को दीनानाथ फुर्ती से परमात्मा की तरफ भेजने लगा। वह एक भी काम ऐसा नहीं करता जिसके साथ उसके जीवन का लक्ष्य दूर हो जाता, जब तक उसे दो-चार जीव दबकर मरना जाने का पूरा विश्वास नहीं होता। इसी बड़ी खुशी बड़े उत्साह और बड़ी तत्परता से वह हिंसा मत-वाक्य द्वारा परमार्थ का आदर्श उपस्थित करने लगा।

[चार]

कर्मों के अनुसार ही स्वभाव में कोमलता और कठोरता का समावेश होता है। प्रसंग परशुराम में क्षत्रिय और क्षत्रिय कुलदेव में आसपास की विशेषता सभी जानते हैं। दीनानाथ के स्वभाव में भी परिवर्तन शुरू से ही प्रारम्भ हो गया था। धीरे धीरे दूसरों के दुखों की अनुभूति से उसका मन विरक्त हो गया। छोटे-छोटे जीवों से चलकर वह बड़े-बड़े जीवों को मारने लगा। उनके छटपटाने, उनके चिल्लाने का उसकी अन्तरात्मा पर कुछ भी असर नहीं पड़ता था।

एक दिन जब वह लाठी का प्रहार एक सोते हुए कुत्ते पर करना चाहता था उसके मित्र कालिकाप्रसाद ने आकर कुत्ते को भगा दिया और एक ओर खड़ा होकर हँसने लगा। मित्र की ढिठाई और नादानी पर दीनानाथ को कितना कष्ट पहुँचा, यह शायद कालिकाप्रसाद को ज्ञात न हुआ। दीनानाथ को इस तरह अपनी ओर घूरते देखकर कालिकाप्रसाद ने हँसकर कहा—क्यों भला उसने क्या बिगाड़ा था?

दीनानाथ ने अधिकारपूर्ण स्वर में कहा—तुम जो बात नहीं समझ सकते, उसके लिये फिजूल माथापच्ची करने से फायदा?

वह इतना कहकर शीघ्रता से अपने काम के लिये चला गया। कालिकाप्रसाद खड़ा-खड़ा उसके विचित्र स्वभाव की आलोचना करता रहा।

दीनानाथ की उससे मित्रता थी, यह बात समझ सकना कठिन है। कारण कि दीनानाथ सदा से ही निर्मोही, निष्ठुर और निस्पृह था। वह किसी से लगाव नहीं रखता था। जहाँ किसी तरह के सम्बन्ध की गन्ध

जाती, जहाँ से वह दूर जा सका होता । उसके असहाय जीवन में प्रेम और स्नेह के आस्वादन का कभी पता न था । मां-बाप थे नहीं । भाई-बहनों की भी उसे याद न थी । उसका जीवन कठोरता और हृदयहीनता के साँचे में ढला था ।

कालिकासहाय भी अजब स्वभाव का था । स्नेह-सम्बन्ध के कट्टर शत्रु दीनानाथ से बारबार मिलना उसे पसन्द आता था । जब देखो तब वह उसी के पीछे पड़ा रहता था । उधर दीनानाथ उसकी रंच भी परवाह न करता था । इस तरह विचित्र गति से उन दोनों की मित्रता आगे पैरों चल रही थी । एक हाथ की ताली बजाकर ही कालिकासहाय सन्तोष कर रहा था । लेकिन ऐसा वह क्यों कर रहा था ? इसका जवाब शायद उसके पास भी न था ।

आज जब कालिकासहाय ने एकाएक आकर कुर्से को मग्न किया तो दीनानाथ सह न सका । वह मन-ही मन तिलमिलाकर एकान्त में चला गया और किसी विचार में मग्न हो गया । बड़ी देर तक ध्यानावस्थित होने के बाद वह यह सोच सका कि कालिकासहाय अज्ञानी है । उसे इतना ज्ञान नहीं है कि वह एक मक्खी की तरह अपने जीवन की असार्थकता समझ सके । 'मक्खी' का ध्यान आते ही उसे मकड़ी का भी ध्यान आ गया । उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी दिव्य ज्योति ने उसे कुछ संकेत किया है । उसने कहा—हाँ, जरूर उसे अज्ञानता से मुक्त करना होगा । वह मुझसे हित मानता है । शायद उसकी अन्तरात्मा इसीलिये उसे बार-बार इधर ले आती है । खैर, अब उसे कष्ट नहीं करना पड़ेगा । मैं खुद ही चलकर उसकी

[चार]

कर्मों के अनुसार ही स्वभाव में कोमलता और कठोरता का समावेश होता है। अतएव परशुराम में क्षत्रिय और क्षत्रिय शुकदेव में ब्राह्मणत्व की विशेषता सभी जानते हैं। दीनानाथ के स्वभाव में भी परिवर्तन शुरू से ही आरम्भ हो गया था। धीरे-धीरे दूसरों के दुखों की अनुभूति से उसका मन विरक्त हो गया। छोटे-छोटे जीवों से चलकर वह बड़े-बड़े जीवों को मारने लगा। उनके छटपटाने, उनके चिल्लाने का उसकी अन्तरात्मा पर कुछ भी असर नहीं पड़ता था।

एक दिन जब वह लाठी का प्रहार एक सोते हुए कुत्ते पर करना चाहता था उसके मित्र कालिकासहाय ने आकर कुत्ते को भगा दिया और एक ओर खड़ा होकर हँसने लगा। मित्र की ढिठाई और शरारत पर दीनानाथ को कितना कष्ट पहुँचा, वह शायद कालिकासहाय को ज्ञात न हुआ। दीनानाथ को इस तरह अपनी ओर घूरते देखकर कालिकासहाय ने हँसकर कहा—क्यों भला उसने क्या बिगाड़ा था?

दीनानाथ ने अविकारपूर्ण स्वर में कहा—तुम यह बात नहीं समझ सकते, उसके लिये बिल्कुल माथापच्ची करने से फायदा?

वह इतना कहकर शीघ्रता से अपने काम के लिये चला गया। कालिकासहाय खड़ा-खड़ा उसके विचित्र स्वभाव की आलोचना करता रहा।

दीनानाथ की उससे मित्रता थी, यह बात समझ सकना कठिन है। कारण कि दीनानाथ सदा से ही निर्मोही, निष्ठुर और निस्पृह था। वह किसी से लगाव नहीं रखता था। जहाँ किसी तरह के सम्बन्ध की गंध

आती, वहां से वह दूर जा खड़ा होता । उसके असहाय जीवन में प्रेम और स्नेह के आस्वादन का कभी सवाल न था । माँ-बाप थे नहीं । भाई-बहनों की भी उसे याद न थी । उसका जीवन कठोरता और हृदयहीनता के सांचे में ढला था ।

कालिकासहाय भी अजब स्वभाव का था । स्नेह-सम्बन्ध के बाहर शत्रु दीनानाथ से बारबार मिलना उसे पसन्द आता था । जब देखो तब वह उसी के पीछे पड़ा रहता था । उधर दीनानाथ उसकी रंच भी परवाह न करता था । इस तरह विचित्र गति से उन दोनों की मित्रता लगड़े पैरों चल रही थी । एक हाथ की ताली बजाकर ही कालिकासहाय संतोष कर रहा था । लेकिन ऐसा वह क्यों कर रहा था ? इसका जवाब शायद उसके पास भी न था ।

आज जब कालिकासहाय ने एकाएक आकर कुछ को भगा दिया तो दीनानाथ सह न सका । वह मन ही-मन तिलमिलाकर एकान्त में चला गया और किसी विचार में मग्न हो गया । बड़ी देर तक ध्यानावस्थित होने के बाद वह यह सोच सका कि कालिकासहाय अभागी है । उसे इतना ज्ञान नहीं है कि वह एक मक्खी की तरह अपने जीवन की असार्थकता समझ सके । 'मक्खी का ध्यान आते ही उसे मकड़ी का भी ध्यान आ गया । उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी दिव्य ज्योति ने उसे कुछ संकेत किया है । उसने कहा—हाँ, जरूर उसे असहायता से मुक्त करना होगा । वह मुझसे हित मानता है । शायद उसकी अन्तरात्मा इसीलिये उसे बार-बार इधर ले आती है । खैर, अब उसे कष्ट नहीं करना पड़ेगा । मैं खुद ही चलकर उसकी

[चार]

कर्मों के अनुसार ही स्वभाव में कोमलता और कठोरता का समावेश होता है। भगवान परशुराम में क्षत्रियत्व और क्षत्रिय गुरुदेव में ब्राह्मणत्व की विशेषता सभी जानते हैं। दीनानाथ के स्वभाव में भी परिवर्तन शुरू से ही आरम्भ हो गया था। धीरे-धीरे दूसरों के दुखों की अनुभूति से उसका मन विरक्त हो गया। छोटे-छोटे जीवों से चलकर वह बड़े-बड़े जीवों को मारने लगा। उनके छटपटाने, उनके चिल्लाने का उसकी मनःस्थिति पर कुछ भी असर नहीं पड़ता था।

एक दिन जब वह लाठी का प्रहार एक बंधे हुए कुत्ते पर करना चाहता था उसके मित्र कालिकाप्रसाद ने आकर कुत्ते को भगा दिया और एक ओर खड़ा होकर हँसने लगा। मित्र की ढिठाई और मनमानी पर दीनानाथ को कितना कष्ट पहुँचा, यह शायद कालिकाप्रसाद को ज्ञात न हुआ। दीनानाथ को इस तरह अपनी ओर घूरते देखकर कालिकाप्रसाद ने हँसकर कहा—क्यों भला उसने क्या बिगाड़ा था।

दीनानाथ ने अविकारपूर्ण स्वर में कहा—तुम यह बात नहीं समझ सकते, उसके लिये बिल्कुल माथापच्ची करने से फायदा।

वह इतना कहकर शीघ्रता से अपने कमरे के भीतर चला गया। कालिकाप्रसाद खड़ा-खड़ा उसके विचित्र स्वभाव की आलोचना करता रहा।

दीनानाथ की उससे मित्रता थी, यह बात समझ सकना कठिन है। कारण कि दीनानाथ सदा से ही निर्मोही, निष्ठुर और निर्दय था। वह किसी से लगाव नहीं रखता था। वह किसी तरह के सम्बन्ध को पसं

जाती, जहाँ से वह दूर जा सका होता । उसके असहाय जीवन ने प्रेम और स्नेह के अत्याचार को कभी सहा न था । माँ-बाप थे नहीं । भाई-बहनों की भी उसे याद न थी । उसका जीवन कठोरता और हृदयहीनता के साँचे में ढला था ।

कालिकासहाय भी अजब स्वभाव का था । स्नेह-सम्बन्ध के बाहर शत्रु दीनानाथ से बारबार मिलना उसे पसन्द आता था । जब देखो तब वह उसी के पीछे पड़ा रहता था । उधर दीनानाथ उसकी रत्ती भी परवाह न करता था । इस तरह विचित्र गति से उन दोनों की मित्रता लँगड़े पैरों चल रही थी । एक हाथ की ताली बजाकर ही कालिकासहाय संतोष कर रहा था । लेकिन ऐसा वह क्यों कर रहा था ? इसका जवाब शायद उसके पास भी न था ।

आज जब कालिकासहाय ने एकाएक आकर कुत्ते को भगा दिया तो दीनानाथ सह न सका । वह मन-ही मन तिलमिलाकर एकांत में चला गया और किसी विचार में मग्न हो गया । बड़ी देर तक अन्यमनस्थित होने के बाद वह यह सोच सका कि कालिकासहाय अज्ञानी है । उसे इतना ज्ञान नहीं है कि वह एक मक्खी की तरह अपने जीवन की असार्थकता समझ सके । 'मक्खी' का ध्यान आते ही उसे मकड़ी का भी ध्यान आ गया । उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी दिव्य ज्योति ने उसे कुछ संकेत किया है । उसने कहा—हाँ, जरूर उसे अज्ञानता से मुक्त करना होगा । वह मुझसे मित्र मानता है । शायद उसकी अन्तरात्मा इसीलिये उसे बार-बार इधर ले आती है । खैर, अब उसे यह नहीं करना पड़ेगा । मैं खुद ही चलकर उसकी

आत्मा को अमरसुख पहुँचाकर धन्य करूँगा ।

यह कहकर एक चमचमाती छुरी छुरी लेकर अपने अज्ञानी मित्र की तलाश में निकल पड़ा । थोड़ी ही दूर गया होगा कि कराहने की एक क्षीण आवाज ने उसे चौंका दिया । उसने देखा—एक मरणासन्न-प्राय मानवमूर्ति रास्ते में एक तरफ पड़ी थी । उसमें शक्ति और रक्त का संचार एकदम समाप्त हो चुका था ।

दीनानाथ का हृदय न जाने क्यों यह दृश्य देखकर काँप गया, पर वह तुरन्त सम्भलकर खड़ा हो गया । मन को सुस्थिर करके पूछना चाहा—कहो, निवृत्ति की गोद में जाना चाहते हो ? क्या मैं तुम्हारे उद्देश्य में सहायता दूँ ?

मृत्यु की गोद में छटपटाते हुए पुरुष ने कष्ट से अस्फुट स्वर में कहा—थोड़ा पानी ।

दीनानाथ के तन-बदन में आग सी लग गई । वह बोला—अभी तक पानी पीने की इच्छा रखते हो ?

उस पुरुष ने आँखें खोल दीं । चारों ओर देखकर कहा—हा राजकुमारी कहाँ गई ! मेरी प्यारी रानी"

दीनानाथ—क्यों क्या चाहते हो ?

पुरुष—जीवन, मैं केवल जीवन चाहता हूँ । क्या तुम कोई देवता हो मेरा ! हा ! मेरी प्यारी राजकुमारी !

दीनानाथ—जीवन नरक है, तुम नरक की क्यों कामना करते हो ?

पुरुष—जीवन नरक ! ओफ गजब, जिसमें अनेक सुखों की

उत्तेजित हुई, पर ... पर —

दीनानाथ—हां, कहो ! तुम अज्ञानता में पड़े हो । कहो तो तुम्हें अज्ञान से छुटकारा दिला दूं ! बोलो जल्दी, मेरा अमूल्य समय जा रहा है । उसने अपनी तेज छुरी हाथ में ले ली ।

पुरुष की आंखें खुल गईं । उसने कहा—जाओ ! तुम हत्या करोगे, हत्या ! अभी नहीं, मेरी बच्ची राजदुलारी !

दीनानाथ ने पेट के पास छुरी ला कर कहा—तुम मूर्ख हो । अच्छा, यह सीधा रास्ता है—बस ।

[पांच]

अपराह्न-काल की अन्तिम किरणें पड़ रही थीं । दीनानाथ ने जाकर कालिकाप्रसाद को पुकारा । कुण्डी खुली । दीनानाथ दरवाजे को ठेलकर अन्दर दाखिल हुआ । वह आश्चर्य से अवाक खड़ा रह गया । एक अद्भुत लावण्यमयी कृशांगी सुकुमारी लड़की सामने खड़ी थी । उसके अपूर्व चेहरे पर विषाद की छाया से आनन बना खिन्न था । दीनानाथ मुग्ध भाव से कई क्षण तक उसकी ओर टकटकी लगाए खड़ा रह गया । वह लड़की भी मूर्तिवत् उसके एक तरफ निकल जाने की प्रतीक्षा में उसी तरह अचल खड़ी रही ।

कालिकाप्रसाद ने अन्दर से पुकारा—क्या करते खड़ा है, दीनानाथ ! क्या कोई शिकार हाथ लग गया है ?

भार मंग हुआ । दीनानाथ का शरीर एक पत्थर ऊपर से नीचे

वह सिहर उठा। उसने जी पर शासन करके कहा—अभी फिकर हो, मैं तो शिकार की ही तलाश में आया हूँ।

इधर छत पर चले आओ—कहकर कालिकासहाय उसकी प्रतीक्षा में टहलने लगा। दीनानाथ पहुँचा तो कालिकासहाय ने व्यंग्य के भाव से पूछा—आज क्या जरूरत पड़ गई !

दीनानाथ ने अपनी कमर की छुरी पर हाथ फेरकर कहा—मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ी दया आती है। कई दिन से मैं यह निश्चय कर रहा हूँ कि कम-से-कम अपने एक परिचित मित्र को तो कुछ उपदेश दे सकूँ।

कालिकासहाय ने हँसकर कहा—मैं तो तुम्हारा उपदेश ग्रहण करने लायक नहीं हूँ। अभी मेरी बुद्धि परिपक्व नहीं है, अभी संसार की किसी चीज से मुझे विरक्ति नहीं हुई है, इसलिये मैं उसका अधिकारी नहीं। हाँ, तुम्हारे उपदेश का एक भाव मुझे मिल गया है। वह मैं तुम्हें सिपुर्द कर सकता हूँ।

दीनानाथ उसके मुँह की ओर देखने लगा। उसने फिर कहा—कहो तैयार हो !

इसी समय कालिकासहाय की बहन कमलावती उस लड़की को साथ लेकर छत पर आ पहुँची। कालिकासहाय ने दीनानाथ से कहा—देखो, यही वह लड़की है। इसका पहले ही से तुम्हारे मन की तरफ झुकाव है। अगर तुम इसे अपने घर में नहीं लेते, तो कमलावती सारे पुरुष की मानी होगी। एक तो इसके शरीर में जान ही कितनी है, दूसरे कमलावती उसे ठेल-ठेलकर यमपुरी भेज देना चाहती है। बेचारी बड़ी गरीब असहाय और

निराधार है। तुम चाहो तो मास्टर चाहे बहुत उपदेश देकर कर सकते हो। पर मन पूरी तरह से तुम्हारी अनुगामिनी हो जायगी, तो कोई उसे रोकनेवाला नहीं। सच पूछो तो तुम्हारे मत की सार्थकता इसी तरह के प्राणियों में सिद्ध हो सकती है।

बड़े तर्क-वितर्क के बाद कालिकाप्रसाद ने दीनानाथ को तैयार कर लिया। उसने मन ही मन खुश होकर पुकारा—कमलावती अपना उपदेश खत्म करके इसे इधर ले आ। इसके लिए नए मास्टर साहब रख लिए गए हैं।

कमला ने वहीं से पुकारकर जवाब दिया—नहीं मास्टर की जरूरत नहीं है। यह मास्टर से नहीं पढ़ेगी। हम दोनों खेल रही हैं।

कालिकाप्रसाद ने जरा तीव्र स्वर में कहा—चल-चल बहुत बात न बना। मालूम पड़ता है, एक मास्टर तेरे लिये भी लाना होगा। दिन भर खेलती रहती है।

मास्टर के नाम से सहमती हुई कमलावती अपनी सहेली को झट पकड़कर उसे कालिकाप्रसाद के पास ले आई।

दीनानाथ कर्मोपदेश की तमाम बातें भूलकर एक साधारण मास्टर की तरह उस अज्ञात अपरिचित बालिका को पढ़ाने लगा। जरा देर में कालिकाप्रसाद धीरे से उठकर नीचे चला गया।

[छ]

रात को बड़े गर्व के साथ कालिकाप्रसाद ने अपने पिता के सामने

करा—बाबूजी, मैंने ठीक कर दिया है ।

पिता ने पूछा—क्या दीनानाथ ने मामा स्वीकार कर लिया है वह बड़ा ईमानी लड़का है, तुम जरा उसकी फिक्र रखना । वह किसी काम में भी लगा सकेगा इसका मुझे विश्वास नहीं ।

कालिकाप्रसाद—जी नहीं अब वह राज आयगा ।

पिता—हां, तब तो बहुत ठीक । बेचारी गरीब लड़की का जीवन सुखद बनाएगा और दीनानाथ अच्छा मस्त होने से मनमानी न कर सकेगा ।

पिता ने ही नहीं माता ने भी कालिकाप्रसाद को उसकी सफलता पर बहुत साधुवाद दिए । तमाम घर के लोग उसकी तारीफ करने लगे । अकेली कमलावती को भाई का यह काम बिलकुल पसन्द न आई । वह अपने माथ फुलाए हुए एक तरफ बैठी रही । लेकिन उसका किसी पर कुछ असर नहीं हुआ । कमलावती यद्यपि दिन में कई बार लड़ाई झगड़ा करती थी, पर वह उसकी पक्की धारणा थी कि बड़-भ्रमकर भी उसका अपनी सखी पर जो अधिकार है, वह किसी दूसरे का हरदम प्यार करके भी नहीं हो सकता ।

दीनानाथ दो-तीन दिन तक बड़े उत्साह से उस अनाथ बालिका को पढ़ाने जाता रहा । उसी थोड़े-से समय के प्रयास ने उसके जीवन की धारा में अपूर्व आकांक्षाओं की सृष्टि कर दी । यद्यपि प्रकाश्य रूप से वह उन्हें समझ नहीं सका पर उसकी सूक्ष्म दृष्टि के लिये उनका आभास ही काफी था । यही वजह थी कि अन्तरोल्लास के साथ साथ ग्लानि का एक भाव भी उसके हृदय में अपनी जड़ गहरी जमा रहा था ।

एक दिन शाम को जब वह लौटकर आया, तो उसके हृदय में बड़ी अशान्ति पैदा हो गई। उसे ऐसा प्रतिभास हुआ कि वह सचमुच कई दिन से अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं कर रहा है। यद्यपि समय के बहुत बड़े भाग में वह अपने आचार में कोई त्रुटि नहीं करता फिर भी एक शिथिलता आ गई है। वह एकाएक नींद के झोंके से चौंक पड़ा। उसे प्रतीत हुआ जैसे कालिकाप्रसाद ने उसे ठग लिया है। उसके लिये मांस का एक जाल बिछाकर उसने लौकिक दृष्टि से अपने जीवन की रक्षा कर ली है; पर वास्तव में उसने अपनी आध्यात्मिक मृत्यु कर ली है।

दीनानाथ ने तुरन्त तय किया कि वह ऐसा न होने देगा। वह अपने अज्ञानी मित्र का अवश्य ही जीवनमुक्त करेगा।

बस, दूसरे दिन से वह पूर्ववत् बड़ी तत्परता से अपने कार्य में व्यस्त हो गया। मास्टर के रूप में कालिकाप्रसाद के मकान की तरफ जाना बन्द कर दिया और कोई न सही कमलावती तो उसके इस कार्य से प्रसन्न ही हुई।

[सात]

कई दिन प्रतीक्षा करने के बाद भी जब कालिकाप्रसाद न आया तो दीनानाथ से रहा न गया। वह खुद ही उसकी तलाश में निकल पड़ा। आज उसने तय कर लिया था कि कालिकाप्रसाद की खबर लेनी ही होगी।

वह बड़ी तेजी से अपने मित्र के मकान की तरफ दौड़ गया।

कालिकाप्रसाद का मकान सड़क पर था। दूर से उसका द्वार नज़र

इशारा ।

दीनानाथ अब तक औचक्का सा बैठा था। उसने एकांत पाकर उसाहने के दो-तीन शब्दों में ही हृदय की समस्त वेदना उंडेलकर पूछा—मुझे खबर ही न दी?

कालिकासहाय ने धीरे से कहा—तुम मृत्यु को ही जीवन समझते हो इसलिये यद्यपि राजकुमारी ने स्वयं बुखार की तीव्रता के समय तुम्हें कई बार याद किया था।

दीनानाथ का सारा शरीर कांपने लगा। राजकुमारी! राजकुमारी! उसके कानों में गूंजने लगा। उसकी आंखों के सामने उस वृद्ध पुरुष की समस्त बातें प्रत्यक्ष हो उठीं। उसे ऐसा मालूम पड़ा, जैसे समस्त संसार चक्कर खा रहा है। वह आरामकुर्सी पर बेहोश होकर गिर पड़ा।

कालिकासहाय रोगिणी की श्वास की गति पर ध्यान दे रहा था। वह दीनानाथ की हालत का अनुमान नहीं कर सका।

थोड़ी देर में दीनानाथ को होश हुआ। सिर उठाया, देखा—कड़ुए तेल के दिए की बत्ती धीमी जल रही थी। कालिकासहाय भी अपनी कुर्सी पर ऊंघ रहा था।

दीनानाथ ने मित्र का कंधा हिलाकर कहा—तुम जाकर लेटो। मैं बैठा हूं। दिन में सो चुका हूं, मुझे बिलकुल नींद नहीं है।

कालिकासहाय—नहीं।

दीनानाथ—क्यों नहीं जाओ, तुम जाकर लेट रहो।

कालिकासहाय—डाक्टर की ताकीद है। आज की रात्रि अन्तिम है। मैं आज उठकर न जाऊंगा।

दीनानाथ सुन न सका, उसकी आंखों में आंसू की बूंदें झलमलाने लगीं। कालिकासहाय ने कहा—यह क्या, तुम — तुम इस तरह !

हां, भाई—कहकर दीनानाथ चुप हो गया। आगे उससे बोला न गया। कालिकासहाय उसके मनोभाव को देखकर वहां से उठ गया।

दीनानाथ रामप्यारी के श्वास पर एकटक ध्यान लगाए बैठा रहा। जरा भी स्पन्दन होने से वह सजग हो जाता था। उसके टूटे हुए हृदय में एक ही अभिलाषा थी। वह भी पूरी न हो सकी। राजदुलारी ने आंखें न खोलीं। न खोलीं। रात्रि के अवसान के साथ उसके जीवन का भी अवसान हो गया।

उसके मृत शरीर में भी जीवन का स्पंदन खोजता हुआ दीनानाथ विकल भाव से चारपाई पर बैठा रहा। जिसका तमाम समय बराबर मृत्यु में ही सुख का अस्तित्व मानने में मस्त रहता था, वह आज जीवन की एक-एक श्वास के लिये तरस गया।

निर्मम में ममता का स्रोत फूट पड़ा। हत्यारे में करुणा की रागिनी बज उठी। आडम्बरपूर्ण निश्चय की दृढ़ दीवार एक ही आघात में छिन्न-भिन्न हो गई। हाय रे ! परिवर्तन ! दीनानाथ चुपचाप भावों की उन्मत्त लहर में राजदुलारी की मृत्यु को अपनी हत्याओं की सूची से अलग रखना चाहता है पर न जाने कौन आकर उसका नाम फिर जोड़ देता है। अदृश्य के उस हाथ को रोकने की क्षमता कहां ! वह बेतरह उद्विग्न और उद्विग्न होकर इधर उधर देखना चाहता है, पर कुछ दिखाई नहीं

आता—कुछ समझ में नहीं आता । संसार के पथ-प्रदर्शक को आज अपने पथ-प्रदर्शन के लिए किसी की नितान्त आवश्यकता है ।

व्यवधान

हिमालय की तराइयों में, सुविस्तृत कान्तार के अञ्चल से हटकर, स्वच्छ सलिला सरिता की कमर में लटका हुआ एक बड़ा-सा समतल भूभाग पड़ा था। उसमें नीबू-नारंगी की किस्म के बहुत से बागानी झाड़ थे। बीच बीच में तरह-तरह के पहाड़ी वृक्ष विशेषरूप से लगाये गये थे; उनके पनपने के लिए पर्याप्त साधन भी जुटाये गये थे। उस भूभाग का तीन चौथाई हिस्सा हरित श्यामल घास से ढका हुआ था। शीतल वायु के झोंकों से एक साथ प्रसन्न पक्षियों के हिल उठने से एक विचित्र प्रकार का आनन्द प्रमुदित हृदय में भर जाता था। उसके बीचोंबीच एक उन्नत ढंग से बनाया हुआ मकान था। ठीक बौद्ध-स्तूप की तरह, पर बेढंगा—प्रकृतक हाथों की कारीगरी का सजीव नमूना। ऐसा जान पड़ता था मानो वनदेवी की अलौकिक रूप-राशि को अकस्मात् एक झलक पाकर आदिपुरुष सब कुछ भूलकर उसके पीछे सघन कान्तार की ओर दौड़ गये हों और उनका भूधराकार मानव पुण्यागार खड़ा रह गया हो।

उस स्तूपाकार एकान्त भवन में उन्नत मस्तक, उभरे वक्षस्थल और उठती हुई उमंगोंवाले, उस भवन की तरह, दो युवक रहते थे।

एक का नाम मदन और दूसरे का किशोर था। दोनों कृषक थे। पृथ्वी को जोतकर बोना, धान्य को इकट्ठाकर और फल-फूलों को भरकर राजधानी में भेज देना, बस यही उनके काम थे। वे दोनों एक ही बचपन की उन्मादक सुरभि थे। साथ-साथ रहे थे। साथ-साथ खेले-खाये थे। साथ ही साथ अवस्था की परिवर्धि के साथ देखे थे। उनके दो शरीरों में भिन्नता में एक ही प्राण की प्रतिष्ठा की थी। एक का दर्द दूसरे की आह थी। एक का पसीना दूसरे का रक्तस्राव था।

पेड़ों में बहारें आतीं और चली जातीं। फूलों में यौवन निखरता और खिलता और बिखर जाता, पर उन दोनों के हृदय प्रेम की डोर से कसकर बँधे थे। मलयपवन के उत्तराभिमुख झोंकों को साथ ही साथ आलिंगन करते थे। हंसती हुई कलियों को कभी अकेले में देखकर खुश होने का लोभ किसी के मन में स्थान न पाता।

वे दिन उनकी विजय के दिन थे। पराजय का नाम उनके क्रियाशील कामों के लिए अपरिचित था।

[दो]

अनायास ही दूसरी कुटी का जन्म हुआ। उसमें रहने के लिए आकाश से एक चन्द्रमा उतरकर आया। वन-श्री शोभामय हो गई, पक्षियों के गान में माधुरी भर गई, फूलों से हंसी झरने लगी, और लहरों में यौवन प्रकंपित होने लगा।

उस कुटी के झरोखे सभी पगडंडियों पर झांकते थे। किधर से

भी निकला वातावरण की आँखों में घुली हुई मिलती थी। कुटी की स्वामिनी अपने झरोखे में बैठकर किसी की प्रतीक्षा करती थी। कभी द्वार पर रसाल की डाल का आश्रय लेकर पीठ पर छितराये हुए केशों को सुलझाती और कभी मेंहदी रचाये हाथों से भौंरों को उड़ाती हुई कलियां चुना करती। उसकी हंसी में फूल झरते थे। उसकी चञ्चल चितवन में अमृत बरसता था।

किशोर और मदन हंसते हुए घर से निकले थे; लेकिन वह हंसी कहीं मार्ग में ही रह गई। खेत निराते समय पौधे सींचते समय वे दोनों एक ही विषय का चिन्तन कर रहे थे पर कोई कुछ न कहता था।

वह कौन है? उसने किसकी ओर देखा था? देखा दोनों ही को होगा पर शायद मेरी ओर विशेष रूप से। उसकी दृष्टि में मीठी हंसी भी थी। उस हंसी में कोई संकेत भी था। और वह तो बिलकुल स्पष्ट हो था—यही सोच-सोचकर उन दोनों के हृदयों में भेद भाव का जन्म हुआ। अभिन्नता में अन्तर पड़ चला।

[तीन]

उस दिन से मदन और किशोर को किसी ने साथ आते जाते न देखा। घर से निकलते तो दोनों के दो जुदा रास्ते होते। एक पूरब चलता तो दूसरे को पश्चिम जाना आवश्यक होता। एक इस कोने पर काम करता तो दूसरा खेत के उस कोने पर। घर आते तो आगे-पीछे। एक का बिस्तर एक ओर लगता तो दूसरे का दूसरी ओर। खाने-पीने में भी कोई किसी की प्रतीक्षा न करता। बातों में उदासीनता थी, व्यवहार में एक तरह का

विचित्र मनोभाव । दोनों-दोनों की आंखों से बचकर उस लावण्यमयी सुन्दरी की कुटी की ओर जाना चाहते तो चुपचाप खिसक जाते । एक दूसरे को कानों-कान खबर न होने देने के लिए भरसक सतर्क रहता । डर था, कहीं पहले ही दूसरा जाकर उस पर अपना असर न डाल दे ।

दोनों छिप छिपकर पहुँचने लगे । परिचय हुआ और निर्बलता की सुविधा पाकर वल्लरी की तरह बढ़ गया । आलाप होने लगा फिर भेंटें चढ़ाई जाने लगीं । अपना अपना पुजापा लेकर दोनों ही एक एक दूसरे से बचकर जाने लगे । एक पश्चिम-द्वार से जाता तो दूसरा पूर्व द्वार से । एक सन्ध्या की लाली के साथ पहुँचता तो दूसरा सूर्योदय की किरणों के साथ जाकर अपना अर्घ्य समर्पित कर आता । जो फूल किसी समय देवार्चन के उपकरण थे वे आजकल न जाने किस तरह जाकर उस रमणी का शृङ्गार करते । पुष्प-गंधविहीन धूलि धूसरित देव प्रतिमा की ओर किसी का ध्यान न जाता । सजीव-साकार सौन्दर्य प्रतिमा के सामने प्रस्तर-मूर्ति की कौन परवाह करता ।

घर में, घर से बाहर जो कुछ दर्शनीय और बहुमूल्य मिलता वह देवीजी के चरणों में अर्पित हो जाता । रमणी के सामने दोनों ही अपने को तमाम सम्पत्ति का स्वामी बताते । कोई भूलकर भी अपने साथी का नाम ज़बान पर न लाता ।

कोमलाङ्गी युवती इन दोनों बलशाली युवकों के विचित्र आचरण पर हँसती और तरस खाती थी । मनुष्य अपने उद्दण्ड बल पराक्रम का चाहे जितना गर्व करे, पैरों की धमक से पृथ्वी को कंपाने की शक्ति भले ही

रखता हो, पर सुन्दरी तरुणी युवती के समक्ष वह उतना दया का पात्र है
उसके कोमल बाहु-पाश के सामने उसकी तलवार कुंठित हो जाती है
उसकी मीठी-मधुर मुसकान का लोहा बड़े से बड़ा योद्धा मानता है। इसीलिए
वह युवती भी इस मदोन्मत्त कुसुम वाटी पर असीम कृपा रखती थी। वे
उसकी दया के ही पात्र थे।

[चार]

मदन और किशोर अब इस प्रकार प्रेम के चक्कर में पड़ चुके थे। अब वे दोनों नित्य उस युवती के सामने अपनी नई-नई लालसाएँ ला कर अर्पित कर देते थे, अब पारस्परिक सौहार्द का बन्धन खूब ही शिथिल हो गया था। उस समय उनकी परस्पर ख़बर में झाँकी ला रही थी। प्रणय-प्रतिदान का जितना ही आश्वासन उन्हें मिलता था, मनुष्य का सहृद-भाव उतना ही उनके पास से खिसकता जाता था।

उनके जीवन की सादगी नष्ट हो चुकी थी। विलास ने आत्मा के पवित्र भाव को दूषित कर दिया था। स्वार्थपरता ने घर की आपसदारी लक्ष्मी का द्वार बन्द कर दिया था। कंठों में हास्य-श्री की हरियाली नहीं लहराती थी। सरिता के रुके हुए जल में फूल पकड़नेवाले बच्चों की आशा से प्रान्तर प्रदेश शून्य हो गया था। कुसुम-कुन्तल का मकरन्द पतझड़ की हवा ने वसन्त के प्रभात में ही चुरा डाला था, पर उधर देखता ही कौन! किसे अब उस तरफ़ देखने का अवकाश रह गया था।

निशा की स्पर्शनता, चन्द्रमा की कान्ति और चमत्कार का

लावण्य अपना अपना स्थान छोड़कर जैसे उस सुन्दरी सलोनी युवती के नयन विकास में ही आ बसे थे । उसी की चितवन में अपने चिरवाञ्छित, चिर-राशित रूपसौष्ठव का समाप्य हुआ देखकर वे युवक युगल भी जैसे प्रतिपल उसकी ओर खिंचे आ रहे थे । अवसर पाते ही उनमें से प्रत्येक उसकी अनुपम छविमयी रूपमाधुरी को आँखों के रास्ते पी जाना चाहता था । उसकी साधना-संचित अभिनव पुष्प-प्रतिमा को अपने हृदय-मन्दिर के निभृत अन्तराल में छिपा रखना चाहता था ।

[पाँच]

युवती का नाम मालती था पर क्या कुसुमिता मालतीलता उसे बाँधी थी ! मदन और किशोर के मूक प्रेम-निवेदन की भाषा पढ़ने में मालती को प्रयास नहीं पड़ा था ।

एक दिन उसने किशोर से एकान्त पाकर कहा—आपको यह सुनकर प्रसन्नता होगी कि मैं अब सामाजिक बन्धन में बँध जाना चाहती हूँ । नगर से बाहर समाज से दूर रहकर भी मुझे उसके निकटत्व की आवश्यकता प्रतीत होती है । आशा है, आप मुझे सहायता देंगे । मैं देखती हूँ इसके बिना हम लोगों का स्नेह चिरस्थायी नहीं हो सकता । जैसे जिसके स्वार्थ की सीमा जहाँ पर अस्त होगी वहीं उसके सौन्दर्य का भी लोप हो जायगा । किशोर का हृदय खुशी से नाच उठा । इन्हीं बातों को सुनने के लिए यह अधीर हो रहा था । मालती ने फिर कहा—उसके लिये इसी पूर्णिमा का दिन निश्चित है ।

फिर क्या था—किशोर सहसमुख होकर उस नवीन प्रेमिका का हृदय से स्वागत करने लगा। उसके प्रेम में कुछ विशेष मधुरता थी।

मालती ने उस दिन मीठी-मीठी मृदुल हँसी हँसकर और कुछ-कुछ लजाकर उसे विदा किया और चलते चलते अनुरोध कर दिया—शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध अब विवाह से पहिले भेंट न हो सकेगी।

मदन के साथ भी यही व्यवहार हुआ। उस दिन दोनों ही खुशी से फूल रहे थे और छिपे छिपे आपस में कह रहे थे कि कहीं दूसरे पर रहस्य न प्रकट हो जावे। इस से नींद उड़ गई थी। खुशी से भूख-प्यास हरण हो गई थी। बस, उसी मंगलमहोत्सव की उत्सुक प्रतीक्षा थी।

दोनों में ब्याह के लिये बड़ी तैयारियें थीं—अलग-अलग गुपचुप और बिल्कुल एक दूसरे से पृथक्।

[छः]

मालती का आश्रम फूलों से सजा था। कदम्ब लताओं ने बढ़कर उसके द्वार पर वन्दनवारें बाँधी थीं। आम्रों के द्वार पर झूलती हुई शाखाओं पर बैठकर कोकिला मंगल गान गा रही थी।

मालती ने भी अपने शरीर को वस्त्राभूषणों से सजाया था। केसर के रंग में रंगी हुई साड़ी उसकी देह-लता में मिली जा रही थी।

दासी ने द्वार खोलकर बड़ी शिष्टता से मदन को भीतर बुला लिया। उसकी लाई हुई अमूल्य भेंट लेकर मीठी निगाह से मुस्कराते हुए

एक बार रख दी।

मदन ने अपना स्थान लिया ही था कि किशोर ने प्रवेश किया। उसको भी अनुपम मदन-स्मृति को दासी ने उसी तरह लेकर रख लिया। किशोर भी वहीं मण्डप के नीचे बैठ गया।

आज ही प्रथम बार ये दोनों मालती के यहां साथ-साथ पधारे थे। दोनों का ठाठ निराला था। दोनों राजकुमारों की तरह सजकर आये थे, और इस प्रकार बैठे थे जैसे एक दूसरे को जानता ही न हो। दोनों मन ही मन कुढ़ रहे थे।

इसी समय दोनों की आंखों में अविश्वास और आश्चर्य की सृष्टि करते हुए मालती ने प्रवेश किया। आज लज्जा और संकोच से उसकी शोभा अपार हो रही थी। वह एक अनिन्द्य सुन्दर युवक के हाथ का आश्रम लिए हुए थी। मण्डप में प्रवेश करते ही उसने किंकर्तव्यविमूढ़ इन दोनों युवकों को अनेकानेक धन्यवाद देते हुए कहना आरम्भ किया—आप लोगों को कितना कष्ट हुआ है, मैं जानती हूं। आप ही की असीम कृपा से आज शुभावसर प्राप्त हुआ है जब कि मेरे आराध्यदेव यहां उपस्थित हुए हैं। जिनके लिये मैंने जीवन की अमूल्य घड़ियों में, एकांत निर्जन में कठोर तपस्या की थी, आज वे आप लोगों के सामने हैं। आप लोग ही हमारे माता पिता भाई बन्धु हैं। आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने स्वामी की चरण सेवा के उपयुक्त हो सकूं।—पर वे दोनों अवाक् एक दूसरे को ताक रहे थे। उनकी मुख श्री मलिन और विवर्ण हो गई था। कोई उत्तर मुंह से न निकलता था।

वहां से लौट आने पर एक बार फिर मदन और किशोर एक हो गये। अभी तक वे हिमालय की सघन सुन्दर उपत्यका में विचरण करते हैं। मालती वहां से चली गई है, पर उसकी याद कभी कभी उन दोनों के मन को ग्लानि से भर देती है। वे अपने उस पागलपन पर हंसते भी हैं और शर्माते भी पर मुंह से एक शब्द भी उस संबंध में निकालते डरते हैं।

निष्फल-स्वप्न

जहाज के कप्तान इडसन ने अपने एक मल्लाह के कन्धे में उंगली गड़ाकर कहा—लानतोमे! वे क्षितिज पर बादल उठ रहे हैं। क्या तुम उनके विषय में कुछ कह सकते हो?

लानतोमे ने गर्दन फिराकर जवाब दिया—मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि वे इतनी तेजी से बढ़ रहे हैं, जिसका उन्हें कभी अधिकार नहीं।

इडसन ने जरासा हँस दिया फिर कहा—उनके अधिकार का विचार करना हमारे वश के बाहर की बात है।

लानतोमे ने उसी तरह लापरवाही से सिर हिलाकर कहा—बेशक!

कप्तान अपने कर्मचारियों को हुक्म देने वाला था कि हवा का एक जोरदार झोंका आया, और जहाज तीन फर्लांग की दूरी पर जा पहुँचा। इडसन ने धैर्य को नहीं जाने दिया। उसके लिये यह साधारण बात थी। उसने चिल्लाकर कहा—तूफान।

दूसरे ही क्षण एक-दो-तीन झोंकों ने जहाज को बुरी तरह झकझोर डाला। जरा पहले समुद्र जो शान्त और सौम्य था, उसने ऐसा भयङ्कर रूप धारण किया, जिसकी उपमा देखकर समझना असंभव है।

पर्वताकार भीषण लहरों पर वह हजारों मन का जहाज तृण पत्ती की तरह काँपने लगा। ऐसा घोर विकट शब्द होने लगा कि कानों के परदे फटे जाते थे। मालूम पड़ता था कि जैसे सारा ब्रह्माण्ड उलट-पुलट कर प्रलय की तैयारी में लगा है। पागलों की तरह मतवाली अनन्त जलराशि और उसमें वे तरंग मालाएं समीप पर्वत श्रेणियों की तरह डेक के ऊपर से निकल जाती थीं।

दिशाओं का ज्ञान नहीं रह गया था। एकाएक अभूतपूर्व झनझनाहट से उस मदमस्त तूफान का भी हृदय हिल गया। जहाज एक नंगी कठोर चट्टान से टकरा गया। घूमते हुए उन्मत्त लहरों और उद्दण्ड वायु के झोंकों से सशंक और अर्धमृत लोगों के शरीर समुद्र में बिखर गये। जहाज के टूटे हुए मस्तूल बेकार हो गये। सारे कल पुर्जे लहरों में इधर उधर बहने लगे। देखते देखते जहाज का नाम निशान मिट गया। केवल विराटकाय तरंग-समूह अपनी दुर्जेय शक्ति का अपूर्व प्रदर्शन करते हुए लहरों का हाहाकार मचाये रहे। मनुष्य की क्षुद्र दीन मे रचना स्वप्न के वातावरण की तरह विलीयमान हो गई।

[दो]

नीरव अन्धकार को भेदकर शुभ्र, सौम्य, शान्त और उज्ज्वल प्रभात धीरे-धीरे पूर्व आकाश से उदय हुआ। कहाँ था वह भीषण तूफान और किधर था वह महाप्रलय? चाँदी-सोने के सितारों से उज्ज्वल होकर कूल कूल की राशि से कितना भिन्न था, लेकिन अदम्य-अपरिमेय शक्ति के साथ यही

कितना समीप था ? सामने क्षितिज तक फैली हुई अपरिमित नील जल-राशि कितनी शांत और अचंचल थी ! उसे देखकर कौन कह सकता था कि यही सौम्य सागर संक्षुब्ध होने पर कैसा उन्मत्त हो जाता है ! जब लानतोमे ने सिर उठाकर सूर्य की अरुण-किरण की ओर देखा, तो वे सारी बातें उसके मन में एक साथ आकर प्रविष्ट हो गईं । उसने अपने शिथिल शरीर को बालू के उसी बिछौने पर अलस भाव से डाल दिया । आँखें बन्द करली । और कल रात्रि की घटना का अपनी समस्त शक्ति से स्मरण करने लगा । लेकिन वह कैसे किनारे आ लगा, जहाज क्या डूब गया और सब लोगों की क्या दशा हुई ! इसका कोई आभास उसे न मिल सका ।

लानतोमे ने आँखें खोलकर एक बार अपने चारों ओर देखा । सामने वही महोदधि हहराकार नीलवर्ण मेघ की तरह चुपचाप सो रहा था । ऐसा प्रतीत होता था जैसे कल की उद्दण्ड चेष्टा के पश्चात् उसे पूर्णविश्राम की आवश्यकता हुई है, या मन ही मन ग्लानि के भाव से भरकर मुँह ऊँचा नहीं कर रहा है । लानतोमे उठकर बैठ गया, पीछे निर्जन बालुकामय प्रदेश था । उसके स्वभाव में सदा से जो लापरवाही और मस्ती थी वह इस समय न जाने क्यों दूर हो गई थी, और उसका कोमल मुखमण्डल चिन्ता के गंभीर मेघों से आच्छन्न हो गया था । वह उठकर खड़ा हो गया और चारों ओर व्याकुल दृष्टि दौड़ाने लगा ।

समुद्र के महाभयंकर तूफान से, या कहिये मृत्यु के मुँह से, निकल आने की उसे खुशी होनी चाहिये थी । जिस दैवी शक्ति ने उसे सुरक्षित उपकूल पर ले जाकर सुला दिया था, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करने के

बस्ते वह मन ही मन खिन्न हो गया । इसका यह कारण नहीं कि वह कुलाम था बल्कि एक बार मौत की पूरी यन्त्रणा सह लेने के बाद दुबारा फिर उसी से मार्गों लेने के आसार दिखाई दे रहे थे । इस समय वह दो समुद्रों के बीच में खड़ा था एक बालू का समुद्र था और एक वह जिससे निकलकर उसने प्राण बचाये थे । दोनों निर्जन थे । कहीं कोई नज़र न आता था ।

लानतोने जवान आदमी था । जवानी की उमंग शरीर में भरी थी । रग-रग में उत्सुकता का खून लहरा रहा था । वह अंगड़ाई लेकर कगार के ऊपर एक-एक पैर रखता हुआ चढ़ गया । चारों ओर इस विराट् विजनता में, निर्वाक निस्तब्ध, वनहीन जल थल प्रदेश की ओर देखा, कहीं कोई जहाज आता जाता दिखाई न देता था । एक दीर्घ निश्वास लेकर वह उतर ही रहा था कि एकाएक उसकी दृष्टि पास ही पड़ी हुई किसी श्वेतवस्तु पर पड़ी । उसने समझा, समुद्र का फेन एक स्थान पर आ लगा है, वही सूर्य की किरणों में झिलमिला रहा है, तथापि बगैर देखे उससे रहा भी न गया । वह फुर्ती से उसके अनुसन्धान के लिये चल पड़ा ।

[तीन]

उसका अनुमान एकदम गलत न था, श्वेत फेन से लिपटा हुआ एक अस्तव्यस्त शरीर समुद्र की लहरों में पड़कर वहाँ आ गया था । उस अरण्य स्थान में एक जीवित या मृत कैसे भी प्राणी की अकस्मात् उपस्थिति से लानतोने का हृदय अनिर्वचनीय आनन्द से ओतप्रोत हो गया । उसने अपने थके और शिथिल शरीर की परवाह न करके उस शरीर से फेन को दूर

इसी समय लानडोने एकाएक उछल पड़ा, और ज़ोर से उँगली दिखाकर चिल्लाया। करीब दो मील की दूरी पर एक जहाज आ रहा था। अनुकूल बहने वाली हवा ने सौभाग्य से उसका सकेत बस उस तक पहुँचा दिया। एक क्षण में जहाज ने अपना रुख बदल दिया। अब मारे खुशी के लानडोने पागल हुआ जा रहा था। पर क्रिमेरिन उसी तरह उदास भाव से उसकी ओर देख रहा था। आखिर उसने कहा—लानडोने! यदि कभी तुम मार्सिलीज पहुँच जाओ, तो पहाड़ी के उस पार माझियों की बस्ती में जरूर जाना। वहीं शहतूत के बगीचे के पास अंगूर की बेलि से ढका हुआ, एक मकान मिलेगा। वह मेरी प्रेयसी का घर है। अगर वह उसमें न मिले—और नहीं मिलेगी, क्योंकि आज शाम के बाद वह सदा से मेरी होकर भी मेरी न रहेगी—तो लोगों से पता लगा कर जरा उसके पास तक चले जाना। आज मेरे प्रतिस्पर्धी जोसेफ के साथ उसके जीवन का सम्बन्ध-सूत्र ग्रथित कर दिया जायगा। कृपाकर मिसेस जोसेफ के पास मेरी विफलता का समाचार पहुँचाना न भूलना कि क्रिमेरिन यहाँ से आकर फौज में भर्ती हो गया था। धीरे-धीरे सिपाही के पद से बढ़कर वह सेना का कप्तान हो गया। उसने अनेक युद्ध विजय किये। जितने भाग्य और वैभव की शर्तें उसके पिता ने लगाई थीं, उससे सहस्र गुना उसके पैरों पर लोटते थे। वह चाहता, तो बीच में ही लौटकर वे सारी शर्तें पूरी कर डालता; पर महत्वाकांक्षा ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। *दुर्भाग्य उसे एक युद्ध में ले गया। पराजय हाथ रही।* वह बन्दी हो गया। अनन्त दिशाओं तक व्याप्त महासागर के शून्य-निर्जन टापू में, एक अति भयंकर किले में, बन्द कर दिया गया। सारे

संसार की ओर से वह भुला दिया गया था, पर किसी की याद में उसका अस्थिपंजरमय शरीर सदा ही व्याकुल रहता था। वह एक निश्चित तिथि प्रतीक्षा में हर समय अपनी जाग्रत् इन्द्रियों को व्यस्त रखता था। एक दिन वह पहरेदारों आदि की जरा भी परवाह न करके मृत्यु को तुच्छ समझकर, समुद्र में कूद पड़ा। मृत्यु का डर अब उसे नहीं था, डर था समय के निकल जाने का। पर हाय! वह कहाँ हुआ! अन्त में उसे अनपेक्षित की ही उपलब्धि हुई।

जहाज से छूटी हुई डोंगी अब किनारे आ गई थी। लालताने ने जिमेरिन से चढ़ने को कहा, पर वह तैयार न हुआ। बोला—जाओ मित्र, तुम जाओ। मेरे लिए अब संसार में कुछ नहीं है। प्यारे मकारा, समस्त सार्थकता का अस्तित्व एकदम लुप्त हो गया है। जब भाग्य ने ही मुझे अकेला कर दिया है तो संसार में साथी-संगियों की खोज करना निष्फल और व्यर्थ होगा।

लालताने को आग्रहपूर्वक नाव पर चढ़ाकर वह निर्विकार भाव से जाकर मछली पकड़ने लगा। धीरे धीरे अस्तमित किनारे ने उसे आँख से ओझल कर दिया। लालताने एक भारी सांस लेकर, हर्ष और विषाद के भाव से परेशान होकर मांझी से पूछ बैठा—यह कौन सा द्वीप है?

अभी इसका नामकरण नहीं हुआ—कहकर मांझी जल्दी-जल्दी डांड खेने लगा।

[चार]

जो बात स्वयं जिमेरिन ने नहीं सोची थी, लालताने किस तरह

इसी समय शानतोने एकाएक उछल पड़ा, और जोर से उंगली दिखाकर चिल्लाया। करीब दो मील की दूरी पर एक जहाज आ रहा था। अनुकूल बहने वाली हवा ने सौभाग्य से उसका संकेत वहां तक पहुंचा दिया। एक पल में जहाज ने अपना रुख बदल दिया। अब मारे खुशी के शानतोने पागल हुआ जा रहा था पर मिमेरिन उसी तरह उदास भाव से उसकी ओर देख रहा था। आखिर उसने कहा—शानतोने। यदि कभी तुम मार्सिलोस पहुंच जाना, तो पहाड़ी के उस पार माझियों की बस्ती में जरूर जाना। वहीं शहतूत के बगीचे के पास, अंगूर की बेलि से ढका हुआ, एक मकान मिलेगा। वह मेरी प्रेयसी का घर है। अगर वह उसमें न मिले—और नहीं मिलेगी क्योंकि आज शाम के बाद वह सदा से मेरी होकर भी मेरी न रहेगी—तो लोगों से पता लगा कर जरा उसके पास तक चले जाना। आज मेरे प्रतिस्पर्धी जोसेफ के साथ उसके जीवन का सम्बन्ध-सूत्र ग्रथित कर दिया जायगा। कृपाकर मिसेस जोसेफ के पास मेरी विवशता का समाचार पहुँचाना न भूलना कि मिमेरिन वहां से आकर फौज में भर्ती हो गया था। धीरे-धीरे सिपाही के पद से बढ़कर वह सेना का कप्तान हो गया। उसने अनेक युद्ध विजय किये। जितने मान और वसत की शर्तें उसके पिता ने लगाई थी, उससे सहस्र गुना उसके पैरों पर लोटते थे। वह चाहता, तो बीच में ही लौटकर वे सारी शर्तें पूरी कर जाता। पर महत्वाकांक्षा ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। दुर्भाग्य उसे एक युद्ध में हो गया। पराजय हाथ रही। वह बन्दी हो गया। अनन्त दिशाओं तक व्याप्त महासागर के सून-निर्जन टापू में, एक अति भयंकर किले में, बन्द कर दिया गया। सारे

समुद्र की ओर से वह धुमा दिया गया था, पर किसी की याद में उसका प्रतिफलस्वरूप शरीर सदा ही व्याकुल रहता था। वह एक निश्चित सिद्धि साधना में हर समय अपनी आगत् इन्द्रियों का ध्यान रखता था। एक दिन वह पारेवारों आदि की जरा भी परवाह न करके, मृत्यु का द्वन्द्व समझकर, समुद्र में कूद पड़ा। मृत्यु का डर अब उसे नहीं था डर था समय के निकल जाने का। डर हल। वह बड़ा दुखा। अन्त में उसे अधिक प्रतीक्षित की ही उपलब्धि हुई।

जहाज के छूटी हुई कोख अब किनारे आ गई थी। लालटाने ने सिमेरिन से पकड़ने को कहा, पर वह तैयार न हुआ। कहा—जाओ मित्र, तुम जाओ। मेरे लिए अब संसार में कुछ नहीं है। जाओ मल्लाह, समस्त सर्वस्व का अस्तित्व एकदम लुप्त हो गया है। जब भाग्य ने ही मुझे उपेक्षा कर दिया है, तो संसार में प्राणी-सृष्टियों की चर्चा करना निष्फल और व्यर्थ होगा।

लालटाने को आश्चर्यपूर्वक नाव पर चढ़ाकर वह निर्विकार भाव से जाकर मछली पकड़ने लगा। धीरे धीरे अनमनस्क किनारे ने उसे प्राप्त दे कर दिया। लालटाने एक गहरी सांस लेकर, इसी ओर विचार के भाव से परेशान होकर सोमी से पूछ बैठा—यह कौन सा खेल है?

अभी इसका नामकरण नहीं हुआ—कहकर सोमी कहीं-कहीं सांस लेने लगा।

इसी समय सानतोमे एकाएक उछल पड़ा, और ज़ोर से आँखें दिखाकर चिल्लाया। करीब दो मील की दूरी पर एक जहाज़ जा रहा था। अनुकूल बहने वाली हवा ने सौभाग्य से उसका संकेत वहाँ तक पहुँचा दिया। एक क्षण में जहाज़ ने अपना रुख बदल दिया। अब मारे खुशी के सानतोमे पागल हुआ जा रहा था। पर जिमेरिस उसी तरह उदास भाव से उसकी ओर देख रहा था। आखिर उसने कहा—सानतोमे, यदि कभी तुम मार्सिलीज पहुँच जाओ, तो पहाड़ी के उस पार माझियों की बस्ती में ज़रूर जाना। वहाँ शहतूत के बगीचे के पास, अंगूर की बेलि से ढका हुआ, एक मकान मिलेगा। वह मेरी प्रेयसी का घर है। अगर वह उसमें न मिले—और नहीं मिलेगी, क्योंकि आज शाम के बाद वह सदा से मेरी होकर भी मेरी न रहेगी—तो लोगों से पता लगा कर उसके पास तक चले जाना। आज मेरे प्रतिस्पर्द्धी जोसेफ के साथ उसके जीवन का सम्बन्ध-सूत्र ग्रथित कर दिया जायगा। कृपाकर मिसेज जोसेफ के पास मेरी विफलता का समाचार पहुँचाना न भूलना कि जिमेरिस वहाँ से आकर फौज में भर्ती हो गया था। धीरे-धीरे सिपाही के पद से बढ़कर वह सेना का कप्तान हो गया। उसने अनेक युद्ध विजय किये। जितने मान और धन की शर्तें उसके पिता ने लगाई थीं, उससे सहस्र गुना उसके पैरों पर लोटते थे। वह चाहता, तो बीच में ही लौटकर वे सारी शर्तें पूरी कर डालता। पर महत्त्वाकांक्षा ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। दुर्भाग्य उसे एक युद्ध में ले गया। पराजय हाथ रही। वह बन्दी हो गया। अनन्त दिशाओं तक व्याप्त महासागर के शून्य-निर्जन टापू में, एक अति भयंकर किले में, बन्द कर दिया गया। सारे

वह उसकी खोज में उन्हीं के साथ चली गई ; और वह बराबर क्लिमेरिन की प्रतीक्षा में बैठी रहती थी । अभी सिर्फ तीन साल पहले वह निराश और हताश होकर यहां से चली गई है । उसने आजन्म कुमारी रहने का कठिन व्रत ठाना है । वह एक छोटे-से गांव में रहती है । अभी तक कभी-कभी आशा से विह्वल होकर वह जहाजों से उतरनेवाले लोगों को देखने आती है । लामतोने को ऐसा मालूम पड़ा, जैसे एक बार फिर से तूफान उसको चारों ओर से घेर रहा है । ओफ ! यदि वह सीधा यहीं समय मार्सिलीज चला आता । यदि एलिजा अपने प्रियतम का संदेश पाकर उससे मिलने के लिये न भी दौड़ सकती, तो उसके हताश हृदय के भीतर आशा का एक तार झन-झन बज उठता, और वह बात भुलाकर क्लिमेरिन को वापस लाना दुष्कर न था ।

[पांच]

अपने लापरवाह स्वभाव पर तमाम दोष मढ़कर वह एलिजा की तलाश में स्थल-मार्ग से चल पड़ा । जिस समय वह तीसरे दिन उस अनगिन पथरीले मार्ग से चलकर उसके द्वार तक पहुंचा, तो भूख प्यास के कारण वह गिरकर कुछ देर के लिये बेहोश हो गया ।

आंख खुली, तो देखा, एलिजा उसके सिर पर जल के छींटे दे रही है । लामतोने ने बिना परिचय के ही उसे पहिचान लिया था उसने इस तरह सम्बोधन करके कहा, जैसे चिरन्तन काल से वह उसे पहचानती हो । उसने कहा—एलिजा ! क्लिमेरिन अभी तक जीता है । वह समय के अन्दर नहीं

उसका अनुमान करता। इसीलिए तीन बार पास से गुज़र जाने पर भी उसने मार्सिलीज में जाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। सोचा था, जब कभी उस शहर में जाना होगा, तब देख लूँगा। वह दुबला-ऊँचा जहाजी न भी पहुँचाया जाय, तो कोई हर्ज नहीं; और यह कौन कह सकता है कि वहाँ उसको सुनने के लिए कोई बैठा ही होगा; बरसों के पुराने और शिथिल प्रेम को कोई युवती अपने हृदय में पाल-पोस रही होगी, इस पर लामतोने को कतई विश्वास न था।

इसीलिए ठीक पाँच बरस बाद उस शहर में आने पर वह जहाज से उतरकर एलिसा का पता लगाने चला।

बड़ी मुश्किल से एक बूढ़ी औरत ने बतलाया—ठीक है, उस तरफ पन्द्रह-सोलह बरस पहले एक घर था। वहाँ एलिसा रहती थी, पर अब कई साल से वहाँ नहीं है। आप उस बाग की ओर चले जाइये, वहाँ मालूम कीजिये; शायद कुछ पता चले। यह तो बहुत दिनों की बात है।

लामतोने उधर गया। वहाँ न तो एलिसा का मकान था, न उस घर की मेंड़। केवल खंडहर देखकर इतना ही अनुमान हो सकता था कि वहाँ कभी मनुष्य रहते थे। बहुत देर तक लामतोने वहीं एक प्राचीन वृक्ष की छाया में बैठा हुआ एलिसा की कल्पना करता रहा। फिर इधर उधर पूछताछ करने से मालूम हुआ कि वह किनारे से दूर किसी नगर में रहती है। साथ ही यह भी मालूम हुआ कि पिता की मृत्यु के बाद उसने जोसेफ को कोरा उत्तर दे दिया था कि पिता की प्रतिज्ञा पालन के लिए वह तैयार नहीं है।

* * *

वह उनकी चीज थी, उन्हीं के साथ चली गई और वह बराबर मिमेरिस की प्रतीक्षा में बैठी रहती थी। अभी सिर्फ तीन बरस पहले वह निराश और हताश होकर वहां से चली गई है। उसने आजन्म कुमारी रहने का कठिन व्रत ठाना है। वह एक छोटे-से गांव में रहती है। अभी तक कभी-कभी आशा से विह्वल होकर वह जहाजों से उतरनेवाले लोगों को देखने आती है। लानतोने को ऐसा मालूम पड़ा, जैसे एक बार फिर से तूफान उसको चारों ओर से घेर रहा है। ओफ! यदि वह सीधा उसी समय मार्सेलीज चला आता! यदि एलिजा अपने प्रियतम का संदेश पाकर उससे मिलने के लिये न भी दौड़ सकती, तो उसके हताश हृदय के भीतर आशा का एक तार झन-झन बज उठता, और वह बात भुलाकर मिमेरिस का वापस लाया जाना दुष्कर न था।

[पांच]

अपने लापरवाह स्वभाव पर तमाम दोष मढ़कर वह एलिजा की तलाश में स्वप्न-मार्ग से चल पड़ा। जिस समय वह तीसरे दिन उस जनहीन पथरीले मार्ग से चलकर उसके द्वार तक पहुंचा तो भूख प्यास के कारण वह गिरकर कुछ देर के लिये बेहोश हो गया।

आंख खुली, तो देखा, एलिजा उसके सिर पर जल के छींटे दे रही है। लानतोने ने बिना परिचय के ही उसे पहिचान लिया था उसने इस तरह सम्बोधन करके कहा, जैसे चिरन्तन काल से वह उसे पहचानता हो। उसने कहा—एलिजा! मिमेरिस अभी तक जीता है। वह समय के ऊपर नहीं

आ सका, इसलिए उसने अपना संदेश कहने को मुझे भेजा है । उसे सच लगा कि तुमने आतेक से ब्याह नहीं किया है । ओफ ! नहीं तो वह जरूर ही आता । यही सब सोचकर उसने संसार त्याग दिया है ।

इस तरह उसने मलिन वेष धारिणी मुरझाई हुई सता तुल्य बालिका एलिज़ा से सारी कथा कह सुनाई । एलिज़ा की आंखों से झर झर आंसू गिरने लगे । वह देर से खबर लाने के कारण लानतानी से किसी तरह नाराज न हुई, बल्कि अपने ही मस्तक को पीट डाला ।

जो भूल लानतानी ने स्वयं की थी, उसके उत्तरदायित्व ने तथा उस प्रणयि-युगल के मार्मिक और करुण विरह ने उसे मजबूर किया, और वह अपने चाचा की बड़ी नाव में एलिज़ा को लेकर एक बार फिर तरंगाकुल महासागर के वक्ष को चीरता हुआ उस प्रमाम निर्जन द्वीप की ओर चल दिया ।

अर्सोदय सूर्य की आरक्त किरणों के साथ वह बोट भी मौक्तिक-प्रकाशित ऊँचे किनारे से आ लगा । लानतानी झटपट ऊपर चढ़ गया, रस्सी डालकर उसने एलिज़ा को भी ऊपर खींच लिया । देखा थोड़ी दूर पर जहाँ वह कुछ सास पहले नाव पर चढ़ा था, जहां वह किमेरिन को मछली पकड़ते छोड़ गया था, वहीं ठीक उसी स्थान पर समुद्र की ओर ताकता हुआ वह अब भी बैठा है । वह झटपट एलिज़ा को लेकर उधर दौड़ा । सोचा था, चुपचाप जाकर उसे सामने करके वह मित्र को चकित कर देगा । पर वहां पहुंचते-पहुंचते वे दोनों खुद ही चकित और मूर्तिवत् खड़े रह गये । आह ! किमेरिन का मिथ्याया शरीर दल दल में धंसा हुआ खड़ा था ।

एशिया और लानतोंमे दोनों की आंखों से आंसू ढुलक रहे थे। वह बेचारी सन्ध्या के अन्धकार में उसी तरह खड़ी-खड़ी सोचती रही कि उसका जीवन भी कैसा निष्फल-स्वप्न था।